२०५

डॉ. सियाराम तिवारी

सत्य कहौं लिखि कागर कोरें

(तुलसीदास की गूढ़ उक्तियों का विशद विवेचन)



जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास, हरिद्वार
के सौजन्य से प्रकाशित

कबितबिबेक एक नहि मोरें।
सत्य कहौं लिखि कागर कोरें।।

❀ ❀ ❀

हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी।
जे परदूषन भूषन धारी।।

❀ ❀ ❀

खलपरिहास होइ हित मोरा।
काक कहहिं कलकंठ कठोरा।।
हंसहि बक गादुर चातकही।
हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही।।

❀ ❀ ❀

समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी।
कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।।
एतेहु पर करिहहिं ते असंका।
मोहि तें अधिक जे जड़ मति रंका।।

न्योछावर : ₹ 125.00

ISBN 978-93-5076-164-9

सत्य कहौँ लिखि कागर कोरेँ

(तुलसीदास की गूढ़ उक्तियों का विशद विवेचन)

सत्य कहौँ लिखि कागर कोरेँ

(तुलसीदास की गूढ़ उक्तियों का विशद विवेचन)

डॉ. सियाराम तिवारी

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास, हरिद्वार
के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक

पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग
वाराणसी

ISBN : 978-93-5076-164-9
प्रथम संस्करण - 2017 ई.

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास, हरिद्वार के सौजन्य से प्रकाशित

आवरण- क्रिस्टोफर बर्चेट
शब्द संयोजक - कम्प्यूटर वर्क्स
211, शांति कम्प्लेक्स, एस.पी.वर्मा रोड
पटना-1, 9835258856

प्रकाशक :
पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग
बी 27/98, ए-8, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी- 221010
टेलीफोन - 91-542 2314060
e-mail : pilgrimspublishingvns@gmail.com
website: www.pilgrimsonlineshop.com
www.pilgrimspublishingvns.in

न्योछावर : ₹ 125.00

SATYA KAHAUN LIKHI KAGAR KOREN
(Authentic enquiry into some ambiguous statements of Tulsidasa)
By *Dr. Siyaram Tiwari*
First Edition, 2017

तुलसी-साहित्य के मर्मी अध्येता,
सिद्ध कवि एवं तलस्पर्शी आलोचक
सुहृद्वर **डॉ. वीरेन्द्र शर्मा जी** को
सादर और सप्रेम

Email : shreemathkashi@gmail.com
Website : www.shreemathkashi.com

।। नमोऽस्तु रामाय ।।

फोन : 0542-2402230
मोबा: 09935408431
09216910108



श्रीसम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पदप्रतिष्ठित
स्वामी श्रीरामनरेशाचार्यजी महाराज

के- 22/99 श्रीमठ पंचगंगाघाट, पोस्ट आफिस-विश्वेश्वरगंज, वाराणसी - 221001 (उ.प्र.)

अनादिसृष्टि में अनादिकाल से तत्त्वज्ञान की पिपासा तथा उसकी सुशान्ति के लिए श्रवण-मननादि संसाधनों का सम्पादन चलता रहा है। यह साधना सम्पूर्ण प्राणियों में (शरीरधारियों में) प्रवाहित होती रही है। परमप्रभु के असीम अनुग्रह तथा असंख्यजन्मों के पुण्यप्रकर्ष से जन्म के साथ ही जीवों को ज्ञानार्जन के लिए श्रवणादि इन्द्रियाँ भी प्राप्त होती रही हैं, परन्तु इस साधना का परमोत्कर्ष मनुष्य योनि में ही प्रगट हुआ। क्योंकि मनुष्यों को परमेश्वर से श्वास-प्रश्वासभूत अनादि तथा अनुपम ज्ञानराशि-अपौरुषेयवेदों की प्राप्ति हुई। वेद सर्वथा ही निर्दुष्ट हैं। वक्ता व लेखक के भ्रमादि दोषों से पूर्णतः अछूते हैं, क्योंकि परमेश्वर में भ्रमादि कोई दोष नहीं। परमेश्वर भ्रमित नहीं, उनका सम्पूर्ण ज्ञान यथार्थ है, अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है। वहाँ प्रमाद का संस्पर्श भी नहीं, क्योंकि वह तमोगुणी पदार्थों का भोक्ता नहीं। वह इन्द्रियों की विकलता, अक्षमता से भी ग्रसित नहीं, परमेश्वर तो इन्द्रियों के बिना ही ज्ञान-प्राप्ति में सक्षम हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्यशाली परम प्रभु को लोभ आदि दुर्गुण तथा असंख्य दुर्गन्धित पक्षपातित्व आदि कैसे छू सकते हैं? उनसे ग्रसित तो अधूरा होता है, निर्धनता तथा हीनता से ग्रसित होता है, वह जो जिस किसी प्रकार से अपने तथा अपनों को लाभान्वित कर समृद्धि से मण्डित होना चाहता है।

वेदों के अतिरिक्त सम्पूर्ण रचनाएँ भ्रमादि लेखकों के दोषों से प्रभावित होकर दोषग्रसित होती हैं। निर्दुष्टता लेखन व वक्तृत्व में तभी सम्भव है, जब सभी प्रकार से दोषरहित वेदों तथा उनके उपबृंहण (व्याख्यानभूत स्मृति- पुराण-इतिहास) को आधार बनाया जाय। अप्रामाणिक कथन व लेखन वक्ता व लेखक के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिये कलंकभूत होता है, अभिशापस्वरूप होता है।

ज्ञानपिपासा तथा ज्ञानसम्पादनसाधना स्वाभाविक एवं शोभनीय है, परन्तु उसकी लेखनरूप में अभिव्यक्ति एवरेस्ट चोटी की चढ़ाई से भी कठिन है, तभी तो प्रबुद्धों के यहाँ कहावत है– "शतं वदेत् नैकं लिखेत्"

(बोलें सौ बार, लिखें एक बार भी नहीं।) महती विडम्बना है, सभी लिखने लगे हैं। बोलने लगे हैं। इसकी आवश्यकता नहीं। सत्य (प्रामाणिक) बोलने की नितान्त अपेक्षा है, तभी तो सत्युग आयेगा, विश्वगुरुत्व की प्राप्ति होगी, सम्पूर्ण समृद्धि से मण्डित संसार का सृजन होगा।

सम्पूर्णतया निर्दुष्ट वेद ही महर्षि वाल्मीकि के माध्यम से आदिरामायण के रूप में तथा वही रामायण वाल्मीकि-अवतार तुलसीदास के माध्यम से रामचरितमानस के रूप में प्रकट हुए, जो वेदों के समान ही सर्वथा निर्दुष्ट हैं।

तभी तो उपर्युक्त सम्पूर्ण भावों को समेटते हुये कवि एवं भक्त शिरोमणि गो. तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही कहा-"सत्य कहौं लिखि कागर कोरें" क्योंकि मैं मनमानी वक्ता व लेखक नहीं हूँ। मेरा कागर (कागज) भी कोरा है। जिन दोषों के कारण वक्ता व लेखक अनेकानेक दुष्ट संस्थापनायें करते हैं, वैसा मेरा मन व भाव नहीं, क्योंकि मैं अखिलब्रह्माण्डनायक श्रीरामजी का भक्त हूँ, वे ही मेरे सब कुछ हैं। मेरी कोई छोटी दीवार नहीं, जाति-धर्म-भाषा-क्षेत्र-पार्टी इत्यादि की।

गो. तुलसीदास जी तो उस परम्परा की देदीप्यमान कड़ी हैं, जहाँ पढ़कर बोला या लिखा नहीं जाता, अपितु देखकर (साक्षात्कर) बोला या लिखा जाता है। यही तो ज्ञानप्राप्ति एवं अभिव्यक्ति की चरमावस्था है, जिसकी उद्घोषणा महाभागवत कबीरदास जी ने किया था– "और कहें कागज की लेखी, कबीरा कहे आँखन की देखी।"

गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी सूर्य के समान है, जिसे ढँकने का प्रयास लम्बे काल से अनभिज्ञता तथा प्रमाद आदि लेखकीय दोषों से ग्रसित महानुभावों ने किया, परन्तु परमप्रभु श्रीरामजी की असीम-अहैतुकी कृपा एवं अपने लोकोत्तर अध्यवसायजनित प्रतिभारूपी वायुवेग से डॉ. सियाराम तिवारी जी ने गोस्वामीजी की मेघाच्छादित गूढ़ उक्तियों को अनावृत कर दिया है, मेघों को उड़ा दिया है। महामनीषी डॉ. तिवारी की यह अनुपम श्रीराम सेवा उन्हें तथा असंख्य कल्याणकामियों को मानवजीवन की परमधन्यता प्रदान करेगी। डॉ. तिवारीजी की ऐसी सेवा अविच्छिन्न गति से चलती रहे, यही सर्वावतारी परमप्रभु श्रीरामजी से प्रार्थना है।

रा. रामनरेशाचार्य

रामनवमी, सं. २०७४ वि.

(रा. रामनरेशाचार्य)

आभार

एक जनवरी दो हजार सोलह को प्रातःकाल मैं बिछावन छोड़ने का उपक्रम कर ही रहा था कि मोबाईल की घंटी बजी। प्रो. अलका पांडेय (हिंदी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) ने नववर्ष की शुभकामना देने के लिए स्मरण किया था। कैसे न कैसे, प्रसंग तुलसीदास का चल पड़ा तो उन्होंने इस विषय पर सबसे पहले लिखने का आग्रह किया। मेरे ध्यान में तो यह विषय था ही, उन्होंने प्राथमिकता-सूची में इसका स्थान सबसे ऊपर करा दिया। फिर, लखनऊ की एक यात्रा में वर्तमान हिंदी-विभागाध्यक्ष प्रो. प्रेमसुमन शर्मा जी से इस पर चर्चा हुई और उन्होंने इसकी पांडुलिपि के एक अंश को देखा तो वे इसे प्रकाशित देखने के लिए आतुर हो उठीं। उनकी व्यग्रता ने मुझमें गत्वरता भर दी। फलतः दो हजार सोलह का अंत होते-होते प्रस्तुत पुस्तक का लेखन-कार्य पूर्ण हो गया। इस अवसर पर मैं इन दोनों प्रबुद्ध प्राध्यापिकाओं को हृदय से धन्यवाद और आशीर्वाद देता हूँ।

इसके लेखन-काल में मुझे लखनऊ-यात्रा के अनेक सुयोग प्राप्त हुए जिनमें इस विषय पर प्रो. हरिशंकर मिश्र, प्रो. परशुराम पाल, प्रो. प्रेमशंकर तिवारी, प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह, डॉ. कृष्णजी श्रीवास्तव, डॉ. श्रुति और डॉ. राहुल पांडेय से चर्चा हुई जिन्होंने न केवल इसे पसंद किया वरन् शीघ्र प्रकाशित कराने का आग्रह भी किया। इससे मुझमें तत्परता का संचार हुआ। ये सब मेरे आत्मीय हैं। इस अवसर पर मैं इन सबका सप्रेम स्मरण करता हूँ।

मेरे लेखन में सामग्री जुटाने के लिए डॉ. सभापति मिश्र (इलाहाबाद), प्रो. नर्वदेश्वर राय (वाराणसी) और श्री वीरेन्द्र कुमार चौधरी (पटना) का अहेतुक और अथक सहयोग मुझे सदा सुलभ रहता है। इनके आत्मीय सहयोग ने इस कार्य को भी सरल बनाया है। इनका यह सहयोग-भाव सदा बना रहे, यही कामना है। इन्हें मेरा हार्दिक धन्यवाद!

पटना विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के पूर्व प्रोफेसर-अध्यक्ष डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', बी.आर. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर के अँगरेजी-विभाग की पूर्व प्रोफेसर-अध्यक्ष श्रीमती कुमुद शुक्ला, आर.पी. एस. टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के प्राचार्य डॉ. ध्रुवकुमार, दिल्ली पब्लिक स्कूल, पटना के विद्वान् अध्यापक डॉ. उमाशंकर सिंह तथा साहित्यिक रुचि सम्पन्न शिक्षिका डॉ. चंदन कुमारी ने अनेक प्रकार से मुझे उपकृत किया है। इस अवसर पर मैं इन्हें यथायोग्य सम्मान एवं स्नेह अर्पित करता हूँ।

काशी के श्रीरामानंद पीठाधीश्वर परम पूज्य जगद्गुरु रामानंदाचार्य स्वामी श्री रामनरेशाचार्य जी महाराज ने इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर अपने उज्ज्वल साधुचरित, वंदनीय विद्यानुराग और सहज गुणग्राहकता का भव्य परिचय दिया है। इस अवसर पर मैं उनके समक्ष श्रद्धावनत हूँ।

इस प्रकाशन-अनुष्ठान के सम्पन्न होने में श्री अमूल्य शर्मा (वाराणसी), श्री रामानंद तिवारी (वाराणसी) और श्री मो. कैसर (पटना) का योगदान अविस्मरणीय है। इन्हें हार्दिक धन्यवाद!

यदि वार्धक्यजनित दुर्बल स्मृति के कारण मैं किसी के आत्मीयतापूर्ण सहयोग का स्मरण करना भूल रहा हूँ तो वे कृपया मुझे क्षमा का पात्र समझें।

पटना, —सियाराम तिवारी
मकर संक्रांति, सं. 2073 वि.
14 जनवरी, सन् 2017 ई.

अंतर्वस्तु

सत्य कहौँ लिखि कागर कोरेँ

(भूमिका)

ऐसा प्रतीत होता है, तुलसीदास को आभास हो गया था कि उनके कतिपय वक्तव्य भ्रांतियों के शिकार हो जा सकते हैं, वे निरर्थक विवादों के घेरे में आ सकते हैं। इसीलिए उन्होंने **मानस** के आरम्भ में ही घोषणा कर दी है– सत्य कहौँ लिखि कागर कोरेँ (1/8/11)! कवियों की दुनिया में अपनी रचना के प्रति गर्वोक्ति का प्रचलन रहा है। भवभूति की दर्पोक्ति तो प्रसिद्ध ही है, विद्यापति ने भी बहुत गर्व से कहा–

बालचन्द विज्जावइ भासा।
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।।
ओ परमेसर हरसिर सोहइ।
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ।।

[बालचन्द्रमा और विद्यापति की भाषा (कविता) दोनों को ही दुर्जनों का उपहास नहीं लग सकता क्योंकि वह भगवान् शिव के माथे पर सुशोभित है और यह निश्चय ही नागर (रसिक) के मन को मुग्ध करती है।][1]

तुलसीदास ने जिस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में वैष्णव-शैव का समन्वय कर एक विशिष्ट मार्ग अपनाया, उसी प्रकार इस परम्परा में भी उन्होंने एक नयी रीति स्थापित की। एक ओर तो उन्होंने कहा कि "कबि न होउँ नहि बचन प्रबीनू" किंतु दूसरी ओर यह भी कहा– "सत्य कहौँ लिखि कागर कोरेँ।" इस तरह उन्होंने कवियों की दुनिया में दैन्य और दर्पोक्ति

---

1. डॉ. वीरेन्द्र श्रीवास्तव, विद्यापति अनुशीलन एवं मूल्यांकन, खंड 2, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, 1973 ई., पृ. 2।

का समन्वय किया। तुलसीदास में पंडितम्मन्यता नहीं है, पर आत्मविश्वास अटूट है। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि जो कुछ कहा है वह सत्य है क्योंकि वह 'नानापुराणनिगमागम' और 'क्वचिदन्यतोपि' से समर्थित है। यही नहीं, तुलसीदास यह भी कह रहे हैं कि मैं सादे कागज पर लिखकर कह रहा हूँ। उनका आत्मविश्वास यहाँ देखने योग्य है। ऐसा कहकर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने जो भी लिखा है, सर्वथा पूर्वाग्रहरहित होकर लिखा है। 'कागर कोरें' (सादा कागज) में पूर्वाग्रहमुक्तता की व्यंजना हो रही है। तुलसीदास की जिन उक्तियों पर विवाद होता है, वे वस्तुतः विवादयोग्य हैं ही नहीं। वे वस्तुतः गूढ़ उक्तियाँ हैं जिनके गूढ़ार्थ को हृदयंगम करने और उनके मर्म तक पहुँचने की आवश्यकता है। इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखे जाने के कारण ही विवाद है।

विवादास्पद उक्तियों के अर्थ-निर्धारण में निम्नांकित भूलें होती हैं :

(1) यह भुला दिया जाता है कि **रामचरितमानस** एक प्रबंधकाव्य है। प्रबंधकाव्य में विविध प्रकार के पात्र होते हैं जो विभिन्न प्रसंगों में तरह-तरह की बातें बोलते हैं। इन सभी की उक्तियों को कवि का अपना विचार नहीं माना जा सकता। उसमें कुछ ही पात्र ऐसे होते हैं जिनके माध्यम से कवि अपना संदेश पाठकों तक पहुँचाता है। **रामचरितमानस** में तुलसीदास अपना संदेश श्री राम के माध्यम से देंगे, भगवान् शिव के मुख से कहलाएँगे, वसिष्ठ मुनि के द्वारा देंगे, काकभुशुंडी के द्वारा गरुड़ को कहलाएँगे। तुलसीदास का प्रवक्ता रावण नहीं हो सकता। पर, यही चूक "नारिसुभाउ सत्य कबि कहहीँ, अवगुन आठ सदा उर रहहीँ" की व्याख्या करते हुए होती है। यह रावण की उक्ति है जिसे तुलसीदास का संदेश मानना उचित नहीं।

(2) जिस तरह वक्ता को अनदेखा कर दिया जाता है, उसी तरह प्रसंग की भी उपेक्षा कर दी जाती है। प्रबंधकाव्य में किसी उक्ति का औचित्य-अनौचित्य वक्ता के चरित्र के साथ-साथ इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह किस प्रसंग में वैसा कथन कर रहा है। "पूजिअ बिप्र सीलगुन हीना" में 'बिप्र' शब्द का अर्थ 'मुनि' है, 'ब्राह्मण' नहीं। यह बात

लोगों को इसलिए समझ में नहीं आती है कि वे प्रकरण पर ध्यान नहीं देते हैं।

(3) पाठालोचन (Textual criticism) से छनकर जो पाठ सामने आया है, उसीके आधार पर अर्थ-निर्धारण होना चाहिए, न कि मनमाना पाठ देकर। ज्वालाप्रसाद मिश्र ने यही कार्य किया है। पाठालोचन की दृष्टि से प्रामाणिक माने जानेवाले **रामचरितमानस** के सभी संस्करणों में निम्नांकित पाठ है – "मरम बचन जब सीता बोला। हरिप्रेरित लछिमनमन डोला" किंतु ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इस चौपाई में मनमाना संशोधन कर डाला – "मर्म वचन जब सीता बोली। हरि प्रेरित लक्ष्मण मति डोली"[1] पाठालोचन की भाषा में इसे पाठ में हस्तक्षेप कहा जाता है।

(4) अर्थ-निर्धारण में व्याकरण का भी ध्यान रखा जाना चाहिए जो नहीं होता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'सीता बोला' प्रयोग इसलिए खटकता है कि व्याकरण पर ध्यान नहीं दिया जाता है। खड़ी बोली (हिंदी) के व्याकरण के अनुसार सामान्य भूतकाल में क्रिया के सकर्मक रहने पर कर्म-पद के लिंग-वचन के अनुसार क्रिया-पद का लिंग-वचन होता है, न कि कर्ता-पद के अनुसार। **रामचरितमानस** में भी तुलसीदास की यही प्रवृत्ति देखी जाती है।

(5) शब्दकोशों को देखने से पता चलता है कि किसी-किसी शब्द के अनेक अर्थ दिये रहते हैं जिनमें से कुछ प्रचलित, कुछ अल्पप्रचलित तो कोई अप्रचलित भी रहता है। कवि को अधिकार है कि वह किसी शब्द का प्रयोग अप्रचलित अर्थ में ही कर ले। जयशंकर प्रसाद की काव्यभाषा और गद्यभाषा में ऐसे प्रयोगों की संख्या प्रचुर है। **कामायनी** के 'दर्शन' सर्ग में एक प्रयोग इस प्रकार है–

दो क्षमा, न दो अपना विराग,
सोई चेतनता उठे जाग

'क्षमा' शब्द का प्रचलित अर्थ है 'माफी' किंतु यहाँ वह 'विराग' के

---

1. ज्वालाप्रसाद मिश्र, रामायण, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, मुम्बई, 2014 ई., पृ. 760।

विपरीतार्थक 'धैर्य' अथवा 'सहिष्णुता' के अर्थ में प्रयुक्त है जो उसका अप्रचलित अर्थ है। प्रसाद जी के **स्कंदगुप्त** नाटक में कुमारगुप्त कहता है – "मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।" हिंदी में 'व्यवस्था' शब्द का प्रचलित अर्थ है 'प्रबंध' अथवा 'इंतजाम' किंतु यहाँ वह 'विधान' अथवा 'सविधि आदेश' जैसे अप्रचलित अर्थ में प्रयुक्त है। "पूजिअ बिप्र..." में 'बिप्र' शब्द का ऐसा ही प्रयोग है जिसको नहीं समझने के कारण विवाद है।

(6) अर्थ-निर्धारण करते समय यह भी विचार करना आवश्यक है कि सम्बद्ध उक्ति अथवा शब्द किसी शास्त्र से तो सम्बंधित नहीं है। उदाहरणार्थ "ढोल गवार सुद्र पसु नारी" पर विचार करते हुए यह ध्यान नहीं दिया जाता है कि नारी के संदर्भ में यह उक्ति कामशास्त्रीय (Sexological) अर्थ रखती है।

(7) तुलसीदास के अध्येता को सदा यह स्मरण रखना है कि शास्त्र और लोक की सीमा का वे कभी अतिक्रमण नहीं करते हैं। **रामचरितमानस** को 'नानापुराण निगमागम' और 'क्वचिदन्यतोपि' से समर्थित बतलाकर कवि ने आरम्भ में ही इसकी घोषणा कर दी है। जहाँ शास्त्र का प्रमाण नहीं मिले वहाँ पाठकों को लोकमत ढूँढ़ना चाहिए क्योंकि **मानस** लोकमत-प्रधान काव्य है।[1] हिंदी के पाठकों और आलोचकों में यह एक बड़ी कमी है कि वे काव्य की परख के लिए लोकमत को एक निकष के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं।

(8) प्रस्तावित अर्थ को तर्कसंगत होना चाहिए। ऐसा देखा जाता है कि कोई कथावाचक प्रत्येक चौपाई का तीन-तीन अर्थ बतलाने का दावा करता है तो कोई सात-सात का और कोई तो इससे भी अधिक अर्थ निकालने का दावा ठोकता है। इस प्रकार के अर्थ तर्कसंगत नहीं होते।

उपर्युक्त विचार-बिंदुओं के आलोक में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास की कविता में विवाद की कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं है। जो भी विवाद है वह विवादी के अज्ञान की उपज है।

---

1. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, **गोसाईं तुलसीदास**, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृ. 27।

पाठालोचन शास्त्र (Textual Criticism) से अनभिज्ञ पाठकों का एक वर्ग इस विषय को एक नया मोड़ दे रहा है। इस समुदाय का कहना है कि तुलसीदास ऐसा नहीं लिख सकते थे, ये सब प्रक्षेप हैं और इनको हटा देना चाहिए। यह तो तुलसीदास पर दया करना हुआ! पर, क्या तुलसीदास ऐसे दयनीय कवि थे? हर्गिज नहीं। तुलसीदास की कविता पाठकों से दया की याचना नहीं करती, वह उनकी समझदारी को ललकारती है, उनके ज्ञान की परीक्षा लेती है। अनधिकारी पाठकों का उपहास करते हुए सी.एल. बोल्ज ने कहा है कि कुछ लोग कामचलाऊ शब्द-भांडार के आधार पर जलपान से उलझते हुए (Struggling with breakfast) कविता पढ़ते हैं और तब शिकायत करते हैं कि कविता समझ में नहीं आती है।[1] तुलसीदास की कविता भी जलपान से उलझते हुए पढ़ने की चीज नहीं है। वह आसन मारकर, श्रद्धा का सम्बल लेकर एवं कोश, व्याकरण, भाषाविज्ञान, पाठालोचन, काव्यशास्त्र आदि सकल शास्त्रों को सामने रखकर मनन करने योग्य महान् काव्य है। **रामचरितमानस** को पढ़ते हुए उसके कालोत्तीर्ण रचयिता की उक्ति को सदा ध्यान में रखने की आवश्यकता है– "सत्य कहौं लिखि कागर कोरें"। वे अक्षरशः सत्य हैं, एक सिद्ध सारस्वत कवि और समर्पित भक्त के सुविचारित उद्गार हैं, शास्त्र और लोक की सीमा के भीतर हैं।

और, यही निवेदन इन पंक्तियों का लेखक भी अत्यंत विनयपूर्वक अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा है। उसने भी जो लिखा है वह सत्य लिखा है क्योंकि विना प्रमाण के कुछ नहीं लिखा है और उसे कोरे कागज पर ही लिखा है क्योंकि उसने भी विना किसी आग्रह के तथ्यों को तुलसी-साहित्य के अध्येताओं-अनुसंधायकों के सामने उपस्थापित किया है। उसकी भी यही प्रार्थना है –

"सत्य कहौं लिखि कागर कोरें"।

बस, इतना ही।

---

1. सी.एल. बोल्ज, उद्धृत, क्लाइव सैंसम, दि वर्ल्ड ऑफ पोयट्री, (लंदन, 1959), पृ. 135।

2

संभुप्रसाद सुमति हिअँ हुलसी

रामचरितमानस का सर्वाधिक लोकप्रिय संस्करण गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित संस्करण है। जनसाधारण, संत-भक्त-समुदाय, यहाँ तक कि तुलसी साहित्य का विशेष अध्ययन जिनको नहीं है, विश्वविद्यालयों के ऐसे हिंदी के अध्यापक भी गीताप्रेस के संस्करण को ही जानते और मानते हैं। इस संस्करण के आरम्भ में 'गोस्वामी तुलसीदास जी की संक्षिप्त जीवनी' दी हुई है जिसके दूसरे वाक्य में ही हुलसी को तुलसीदास की माता घोषित कर दिया गया है। तुलसीदास की माता का नाम हुलसी मानने की जो भ्रांति फैली हुई है, उसका सबसे बड़ा कारण यही गीताप्रेस का संस्करण है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस प्रसंग का जिस रूप में उल्लेख किया है उससे भी भ्रम फैलता है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **हिंदी साहित्य का इतिहास** में लिखा है – "उक्त प्रसिद्धि के अनुसार गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। माता के नाम के प्रमाण में रहीम का यह दोहा कहा जाता है –

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय।।"[1]

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह कि इस कथन को शुक्ल जी का अपना शोध किया हुआ प्रामाणिक मत नहीं मानना चाहिए। उन्होंने एक अनुश्रुति के हवाले से यह बात कही है और इसकी प्रामाणिकता पर अपनी कोई सम्मति नहीं दी है। दूसरी और सबसे बड़ी बात यह है कि इस दोहे में 'हुलसी' शब्द नामवाचक संज्ञा नहीं वरन्

1. रामचंद्र शुक्ल, **हिंदी साहित्य का इतिहास** (सातवाँ लोकभारती संस्करण, 2010), पृ. 84।

'फिरैं' क्रिया-पद का क्रियाविशेषण है जिसका अर्थ है उल्लसित होकर, खुश होकर। 'हुलसी' शब्द 'उल्लास' का ही अपभ्रंश है।

आश्चर्य है कि पं. हरगोविंद तिवारी द्वारा संकलित तथा भोलानाथ तिवारी द्वारा सम्पादित (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से प्रकाशित) **तुलसी-शब्दसागर** में भी 'हुलसी' के अनेक अर्थों में से एक अर्थ है– 'तुलसीदास की माता का नाम'।

हुलसी को तुलसीदास की माता बतलानेवाले लोग इसका प्रमाण **रामचरितमानस** की निम्नांकित चौपाई को मानते हैं–

(1) **संभुप्रसाद सुमति हिअँ हुलसी।**
रामचरितमानस कबि तुलसी।। –बाल. 35/1

रामचरितमानस में इसके अतिरिक्त भी 'हुलसी' शब्द के प्रयोग मिलते हैं–

(2) **रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।**
तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।। –बाल. 30/12

(3) **महिमा तासु कहै किमि तुलसी।**
भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी।। –अयो. 301/6

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में 'हुलसी' शब्द के अर्थ पर विचार किया जाय। प्रथम उद्धरण का अर्थ इस प्रकार होगा– "शिव की कृपा से हृदय में सुमति उल्लसित अर्थात् विकसित हुई जिससे तुलसीदास **रामचरितमानस** के कवि हुए।" इस चौपाई का सर्वप्रधान अंश है 'सुमति हिअँ हुलसी'। यहाँ 'हुलसी' को नामवाचक संज्ञा-पद मान लेने से इस सर्वप्रधान अंश का कोई अर्थ नहीं निकलता है। यही नहीं, इससे यह सम्पूर्ण चौपाई भी क्रिया-पद रहित हो जाती है। इस प्रकार 'हुलसी' को यहाँ नामवाचक संज्ञा-पद मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता है। यहाँ वह 'प्रसन्न होना', 'उल्लसित होना' के ही अर्थ में प्रयुक्त है। वह 'हुलसना' क्रिया का सामान्य भूतकालिक स्त्रीलिंग-रूप है।

स्मरणीय है कि 'हुलसना' क्रिया के अनेक रूपों का प्रयोग तुलसी-साहित्य में उपलब्ध होता है, जैसे –

(1) **हुलसत** (सामान्य वर्तमान काल) – सुमिरत हिय हुलसत तुलसी अनुराग उमँगि गुन गाए।। – **गीतावली**, उत्तरकांड, पद-संख्या 14। यहाँ 'हुलसत' पद का अर्थ है 'उल्लसित होता है', 'प्रसन्न होता है।' यहाँ इस क्रिया-पद का कर्ता 'तुलसी' है, इसलिए वह पुंल्लिंग-रूप में है।

(2) **हुलसति** (सामान्य वर्तमान काल) – सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है – **विनयपत्रिका**, पद-संख्या 139। यहाँ इस क्रिया-पद का कर्ता 'खलई' (दुष्टता) स्त्रीलिंग है, इसलिए वह स्त्रीलिंग-रूप में है। अर्थ है दुष्टता (खलत्व) हुलस रही है।

(3) **हुलसि** (क्रियाविशेषण) – हुलसि हुलसि हिये तुलसिहुँ गाए हैं– **गीतावली**, बालकांड, पद-संख्या 72। यहाँ इसका अर्थ है 'उल्लसित होकर' और वह 'गाए हैं' क्रिया-पद की विशेषता बतलाने के कारण क्रियाविशेषण है।

(4) **हुलसे** (सामान्य भूतकाल) – राम सुभाव सुने तुलसी हुलसे अलसी, हम से गलगाजे – **कवितावली**, उत्तरकांड, पद-संख्या 1। इस चरण का अर्थ इस प्रकार है – "तुलसीदास कहते हैं कि राम का स्वभाव सुनकर हमारे समान गाल बजानेवाले और आलसी भी उल्लसित हो उठे।" यहाँ इस क्रिया-पद का कर्ता है – 'अलसी गलगाजे'।

(5) **कवितावली** (अयोध्याकांड, पद 26 और उत्तरकांड, पद 90) में 'हुलसे' के एक अन्य रूप 'हुलसै' का प्रयोग हुआ है।

(6) **हुलस्यौ** (सामान्य भूतकाल) – सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तन हुलस्यौ हियो – **मानस**, बालकांड, दोहा-संख्या 324 के ऊपरवाले छंद में। इस चरण का अर्थ इस प्रकार है – श्री राम को वर के रूप में देखकर राजा जनक और उनकी रानी, दोनों हृदय से उल्लसित हुए।

मध्यकालीन साहित्य में 'हुलसना' क्रिया-पद प्रचलित रहा है। **पदमावत** में इसके कई रूप प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण देखने योग्य है –

महि हुलसै जस पावस छाहाँ।
तस हुलास उपना जिय माहाँ। –पदमावत, 424/2

अर्थ है – जैसे धरती पावस ऋतु की छाँह में हुलसती है वैसे आज मेरे जी में उल्लास उत्पन्न हुआ है। यहाँ 'हुलसै' (सामान्य वर्तमान काल) क्रिया-पद और 'हुलास' (उल्लास) संज्ञा-पद है। तुलसीदास की **कवितावली** में 'हुलसै' क्रिया-पद का प्रयोग हुआ है। बिहारी में भी 'हुलसी' पद का प्रयोग देखा जाता है –

उर लीने अति चटपटी, सुनि मुरली-धुनि, धाइ।
हौं निकसी हुलसी, सु तौ गौ-हुल सी हिय लाइ।।
– **बिहारी-रत्नाकर,** दोहा 560

यहाँ 'हुलसी' शब्द का अर्थ है हुलसकर, उल्लसित होकर और वह 'निकसी' क्रिया-पद की विशेषता बतला रहा है, अतः क्रियाविशेषण है। ऊपर उद्धृत तुलसीदास-कृत **गीतावली** की पद-संख्या 72 में भी 'हुलसि' पद क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'हुलसना' क्रिया के विभिन्न रूप मध्यकालीन काव्य में बहुप्रचलित थे।

अब ऊपर उद्धृत द्वितीय चौपाई पर विचार किया जाय जिसके आधार पर 'हुलसी' शब्द को तुलसीदास की माता का नाम बतलाया जाता है। इस चौपाई का अर्थ इस प्रकार होगा – [यह रामकथा] श्री राम जी को पवित्र तुलसी के समान प्रिय है और तुलसीदास के लिए हृदय में उल्लास के सदृश है। इस चौपाई का अर्थ करने में पहली गलती 'हित' शब्द को लेकर होती है। यहाँ उसका अर्थ 'लिए' या 'निमित्त' है। डॉ. भोलानाथ तिवारी द्वारा सम्पादित **तुलसी-शब्दसागर** में 'हित' शब्द के चार अर्थ दिये गये हैं जिनमें से पहला अर्थ यही है। यहाँ 'हुलसी' शब्द को तुलसीदास की माता का नाम माननेवाले इसका अर्थ 'कल्याण' लेते हैं और खींचतान कर इस चौपाई का अर्थ लगाते हैं। वस्तुतः यहाँ भी

'हुलसी' शब्द नामवाचक संज्ञा नहीं वरन् भाववाचक संज्ञा है और उसका अर्थ 'उल्लास' है। तुलसीदास यहाँ कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार हृदय में आनंद उत्पन्न होने पर मनुष्य एक विलक्षण भावलोक में पहुँच जाता है उसी प्रकार रामकथा तुलसीदास के हृदय में एक विलक्षण आनंद का संचार कर देती है।

उपर्युक्त तृतीय चौपाई अयोध्याकांड की है। प्रसंग है भरत जी परिजन-पुरजन समेत श्री रामचंद्र जी को अयोध्या लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुँचे हुए हैं। भरत जी की भक्ति का वर्णन हो रहा है। तुलसीदास कह रहे हैं कि जिस भरत जी की भक्ति देखकर मुनिगण और मिथिलाधीश जनक जी प्रेम में मग्न हो गये, उसकी [भरत जी की भक्ति की] महिमा को तुलसीदास कैसे कहे – बस, उसके हृदय में सुबुद्धि हुलस उठी अर्थात् ऐसे सात्त्विक भाव का उदय हुआ जिसमें वह मग्न हो गया। इस प्रकार यहाँ भी 'हुलसी' सामान्य भूतकालिक क्रिया-पद ही है, कोई नामवाचक संज्ञा नहीं।

यहाँ एक बात और है जिससे प्रमाणित होता है कि तुलसीदास ने 'हुलसी' का प्रयोग क्रिया-पद के रूप में ही किया है, नामवाचक संज्ञा के रूप में नहीं। तुलसीदास काव्य-हेतु के रूप में विमल बुद्धि, भगवत्कृपा और युक्ति, इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं।[1] उपर्युक्त तीन उद्धरणों में से प्रथम एवं तृतीय में स्पष्टतः 'सुमति' के हुलसने की बात कही गयी है, द्वितीय उद्धरण में 'सुमति' या इसके किसी अन्य पर्याय का प्रयोग नहीं हुआ है किंतु वहाँ भी इसे अंतर्निहित तो माना ही जा सकता है। तुलसीदास यह कहना चाहते हैं कि हृदय में जब सुमति अर्थात् विमल बुद्धि का विकास होता है तब कविता की सृष्टि होती है। निष्कर्ष यह है कि तुलसीदास कहीं भी 'हुलसी' शब्द से अपनी माता के नाम का संकेत नहीं करते हैं।

---

1. डॉ. सियाराम तिवारी, **तुलसीदास का आचार्यत्व** (नयी दिल्ली, 1985), पृ. 54।

3

धुनि अवरेब कबित गुन जाती

यह अर्धाली **रामचरितमानस** के बालकांड में आती है। प्रसंग यह है कि तुलसीदास अपनी महिमामंडित कृति का परिचय दे रहे हैं। वे **मानस** को सरोवर से उपमित करते हुए सरोवर के आकर्षणों को उसमें दिखा रहे हैं। सरोवर की शोभा का एक उपादान यह होता है कि उसमें भाँति-भाँति की सुंदर-सुंदर मछलियाँ होती हैं। तुलसीदास कहते हैं कि उनके **मानस** में 'धुनि', 'अवरेब', 'कबितगुन' और 'जाती' रूपिणी भाँति-भाँति की सुंदर मछलियाँ हैं। पूरी चौपाई इस प्रकार है –

धुनि अवरेब कबित गुन जाती।
मीन मनोहर ते बहु भाँती।।[1]

यहाँ चार शब्दों का अर्थ विचारणीय है। पहला शब्द है 'धुनि'। यह संस्कृत का 'ध्वनि' है। गीताप्रेस की टीका में इसका अर्थ 'कविता की ध्वनि' लिया गया है।[2] स्पष्ट है कि टीकाकार का अभिप्राय काव्यशास्त्र के एक पारिभाषिक शब्द 'ध्वनि' से है जिसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है – "जहाँ अर्थ, वाच्यविशेष अथवा वाचकविशेष शब्द, उस प्रतीयमान रस को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को 'ध्वनिकाव्य' कहते हैं।"[3] यह आनंदवर्धन का ध्वनि-सिद्धांत है जिसके अनुसार ध्वनि काव्य

---

1. **रामचरितमानस**, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, पृ. 18।
2. **रामचरितमानस**, गीताप्रेस, गोरखपुर, मझला साइज, बीसवाँ संस्करण, 2034 वि., पृ. 69।
3. **ध्वन्यालोक**, व्याख्याकार : आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांतशिरोमणि, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2019 वि., पृ. 37।

की आत्मा है। विजयानंद त्रिपाठी[1] और **मानस-पीयूष**[2] ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। ज्वालाप्रसाद मिश्र इसका अर्थ इस प्रकार बतलाते हैं "धुनि, पाठीन मच्छ सबसे बड़ा जल के भीतर अलक्ष रहता है।"[3] कथावाचकगण **रामचरितमानस** की उक्तियों का कैसा-कैसा हास्यास्पद अर्थ निकालते हैं, इसका यह एक नमूना है।

दूसरा शब्द है 'अवरेब'। इसका अर्थ विवादास्पद है। इसके आठ-नौ अर्थ निकाले गये हैं जिन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है – सामान्य और साहित्यशास्त्रीय। यहाँ साहित्यशास्त्रीय अर्थ ही ग्रहण करने योग्य है क्योंकि प्रसंग का सम्बंध इसीसे है। इसके ठीक पहले 'धुनि' (ध्वनि) शब्द आया है, अतः 'अवरेब' को भी काव्यशास्त्रीय ही होना चाहिए। रामदास गौड़ ने इसका अर्थ लिखा है – "कुपेच, पेचपाच की रचना।"[4] स्पष्ट है कि गौड़ जी ने इसका सामान्य अर्थ ग्रहण किया है। **तुलसी-शब्दसागर** में इसके पाँच अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं – "(1) तिरछा, वक्र, (2) उलझन, पेच, (3) बिगाड़, खराबी, (4) झगड़ा, (5) वक्रोक्ति, काकूक्ति उ. 5. धुनि अवरेब कबित गुन जाती (मा. 1/36/4)"।[5] यहाँ सामान्य और साहित्यशास्त्रीय, दोनों प्रकार के अर्थ सम्मिलित हैं। कोशकार के रूप में ऐसा ही करना उचित भी था। किंतु कोशकार ने पाँचवें अर्थ के उदाहरण-स्वरूप विवेच्य अर्धाली को ही उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत प्रसंग में कोशकार को 'अवरेब' शब्द का साहित्यशास्त्रीय अर्थ 'वक्रोक्ति' ही अभीष्ट है। **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर** में इसे फारसी के 'उरेब' शब्द से व्युत्पन्न मानकर इसके छह अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं – "(1) वक्र गति, तिरछी चाल, (2) कपड़े की तिरछी

---

1. **रामचरितमानस**, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2004 ई., प्रथम भाग, पृ. 146।
2. **मानस-पीयूष**, खंड 1, गीताप्रेस, गोरखपुर, सोलहवाँ पुनर्मुद्रण, 2067 वि., पृ. 570।
3. **रामायण**, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 2014 ई., पृ. 54।
4. रामदास गौड़, **रामचरितमानस की भूमिका**, हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, 1962, चौथा खंड, पृ. 11।
5. सम्पादक : भोलानाथ तिवारी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2009 ई.।

काट, (3) मोड़, (4) पेच, उलझन, (5) खराबी, कठिनाई, (6) झगड़ा, विवाद, खींचातानी।[1] ये सारे अर्थ 'अवरेब' को सामान्य शब्द मानकर ही ग्रहण किये गये, उसे साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द मानकर नहीं। **बृहत् हिंदी कोश**[2] में भी ऐसा ही हुआ है। वहाँ इसके ये अर्थ बतलाये गये हैं – "(1) कपड़े की तिरछी काट, (2) वक्र गति, (3) उलझन, कठिनाई, (4) झगड़ा, (5) व्यंग्य, उक्ति की वक्रता।" यहाँ जो अंतिम अर्थ है 'उक्ति की वक्रता' वह 'वक्रोक्ति' का समानार्थी माना जा सकता है।

तुलसीदास ने प्रस्तुत प्रसंग के अतिरिक्त भी **मानस** में 'अवरेब' शब्द का प्रयोग किया है। एक प्रयोग इस प्रकार है

सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी।
अवधि आस सम जीवनि जी की।।
नतरु लखन सिय राम बियोगाँ।
हहरि मरत सबु लोग कुरोगाँ।।
रामकृपा अवरेब सुधारी।
बिबुधधारि भइ गुनद गोहारी।। (2/315/3)

[यह **कुचाल** भी सबके लिए हितकर हो गयी। अवधि की आशा के समान ही वह जीवन के लिए संजीवनी हो गयी। नहीं तो (उच्चाटन न होता तो) लक्ष्मण जी, सीता जी और श्री रामचंद्र जी के वियोगरूपी बुरे रोग से सब लोग घबड़ाकर (हाय-हाय करके) मर ही जाते। श्री राम जी की कृपा ने सारी **उलझन** सुधार दी। देवताओं की सेना जो लूटने आयी थी, वही गुणदायक (हितकारी) और रक्षक बन गयी। – गीताप्रेस संस्करण का अर्थ]। स्पष्ट है कि यहाँ 'अवरेब' शब्द 'कुचालि' (कुचाल = दुष्टता) का पर्याय है।

'अवरेब' शब्द का एक प्रयोग **गीतावली** में भी उपलब्ध है। वहाँ बालकांड के एक पद में यह शब्द आया है

---

1. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।
2. ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।

ऋषि नृप-सीस ठगौरी सी डारी।
कुलगुरु, सचिव, निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी।।[1]

तुलसी-ग्रंथावली के सम्पादकों ने 'अवरेब' शब्द का अर्थ लिखा है – "टेढ़ी स्थिति, कठिनाई"। गीताप्रेस की टीका में भी इस शब्द का अर्थ लिया गया है – 'विपरीत स्थिति'। दोनों स्थानों पर अभिप्राय एक ही है और वह प्रसंगानुकूल भी है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदास ने भी 'अवरेब' शब्द का प्रयोग सामान्य एवं पारिभाषिक, दोनों अर्थों में किया है।

जैसा आरम्भ में ही कहा गया है, प्रस्तुत प्रसंग में तुलसीदास ने 'अवरेब' शब्द का प्रयोग साहित्यशास्त्र के एक पारिभाषिक शब्द 'वक्रोक्ति' के अर्थ में ही किया है क्योंकि इस शब्द के पहले और बाद में, दोनों ओर प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द ही अवस्थित हैं। निष्कर्षतः, 'अवरेब' शब्द का यहाँ अर्थ है वक्रोक्ति सिद्धांत जिसके प्रवर्तक कुंतक थे। कुंतक के अनुसार प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र प्रकार का कथन वक्रोक्ति है – "प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।[2]

तीसरा शब्द है 'कबित गुन'। इसके अर्थ पर मतभिन्नता नहीं है। सबने इसका अर्थ 'काव्य गुण' लगाया है। **तुलसी-शब्दसागर** में इसका एक अर्थ दिया गया है – "कविता के गुण (ओज, प्रसाद, माधुर्य) विशेष" और इसका उदाहरण दिया गया है – "धुनि अवरेब कबित गुन जाती"। स्पष्ट है, प्रस्तुत प्रसंग में कोशकार को 'कबित गुन' से कविता के उपर्युक्त तीन गुण ही अभीष्ट हैं। गीताप्रेस की टीका में भी काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द 'गुण' का ही अर्थ ग्रहण किया गया है।

रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि के समान प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र

1(क). **तुलसी-ग्रंथावली**, दूसरा खंड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, 2015 वि., पृ. 269।

(ख). **गीतावली**, गीताप्रेस, गोरखपुर, चौदहवाँ संस्करण, 2041 वि., 1/100, पृ. 160।

2. **वक्रोक्तिजीवित**, व्याख्याकार : राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1967, पृ. 48।

में एक गुण-सिद्धांत भी था। काव्य में गुण को नित्य माननेवाले गुणवादी कहे जाते हैं। गुणों के विषय में दो प्रकार की धारणाएँ प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में प्रचलित थीं। एक में गुणों को काव्य के शरीर-रूप शब्दार्थ पर आश्रित मानकर उनकी संख्या दस से लेकर चौबीस तक बतलायी गयी और दूसरे में उन्हें काव्य के आत्मा-रूप रस का धर्म बतलाकर उनकी संख्या तीन तक सीमित कर दी गयी – ओज, माधुर्य और प्रसाद।[1]

अब चौथा शब्द बच जाता है और वह है 'जाती'। 'अवरेब' के समान यह भी पर्याप्त विवादास्पद है। 'जाती' पद संस्कृत 'जाति' का पद्यगत रूप है। 'जाति' का यहाँ काव्यशास्त्रीय अर्थ ही ग्रहण करने योग्य है क्योंकि यहाँ इसके ठीक पूर्व के तीन पद 'धुनि' (ध्वनि), 'अवरेब' (वक्रोक्ति) और 'कबित गुन' (काव्यगुण) काव्यशास्त्र के ही पारिभाषिक शब्द हैं। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति के लिए 'जाति' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[2]

तुलसी-शब्दसागर में इस शब्द के नौ अर्थ दिये गये हैं जिनमें से दो का सम्बंध काव्यशास्त्र से है – "7. एक प्रकार का काव्य जिसमें अर्थ स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। कैशिकी, भारती, आरभटी तथा सात्वकी, जाति के ये चार भेद कहे गये हैं।"[3] इसके उदाहरण में विवेच्य अर्धाली को ही उद्धृत किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में कोशकार को 'जाती' पद का यही अर्थ अभीष्ट है। दूसरी बात यहाँ यह कही जा सकती है कि कोशकार ने इसका अर्थ जिन शब्दों में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है उनसे यह स्वभावोक्ति के निकट चला जाता है। यहाँ एक आश्चर्य की बात यह है कि कोशकार ने 'जाति' को परिभाषित तो काव्य के रूप में किया, किंतु उन्होंने इसके जो चार भेद बतलाये, वे नाटक की वृत्तियाँ हैं, काव्य की वृत्तियाँ नहीं हैं। काव्य की वृत्तियाँ तो हैं

---

1. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य : डॉ. सियाराम तिवारी, **तुलसीदास का आचार्यत्व** (नयी दिल्ली, 1985), पृ. 41।
2. डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा', **भारतीय साहित्यशास्त्र कोश**, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना, 2003 ई., 'जाति' और 'स्वभावोक्ति', शीर्षक।
3. सम्पादक : भोलानाथ तिवारी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2009 ई.।

उपनागरिका, परुषा और कोमला।[1] इस कोश में 'जाति' शब्द का आठवाँ अर्थ इस प्रकार दिया गया है – "वह पद्य जिसके चरणों में मात्राओं का नियम हो। मात्रिक छंद।" यह अर्थ विवेच्य प्रसंग के अनुकूल नहीं है।

गीताप्रेस[2], ज्वालाप्रसाद मिश्र[3] और विजयानंद त्रिपाठी[4] की टीकाओं में 'जाति' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, इसका अर्थ नहीं दिया गया है। **मानस-पीयूष**[5] में भी पहली बार तो ऐसा ही किया गया है – "ध्वनि, अवरेब, गुण और जाति जो कविता के भेद हैं वे ही बहुत प्रकार की सुंदर मछलियाँ हैं।" किंतु दूसरी बार लिख दिया – "समस्त चौपाई का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए – 'कवित (काव्य की), ध्वनि (व्यंजना), अवरेब (लक्षणा) और गुणजाती (अर्थात् माधुर्यादि गुणसमूह) मनोहर मछलियाँ हैं।" इस व्याख्या में दो विसंगतियाँ हैं। पहली तो यह कि 'कबित' पद, जो 'गुन' से संयुक्त है, उसको हटाकर अर्थ किया गया है। पाठक 'गुन' का अर्थ सामान्य गुण (Quality) अर्थात् किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की वह विशेषता जो उसे अन्य व्यक्ति अथवा वस्तु से पृथक् करती है, न समझ ले, इसलिए तुलसीदास ने 'कबित गुन' लिखा है। तुलसीदास का अभिप्रेत है भारतीय काव्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द 'काव्यगुण'। यहाँ दूसरी विसंगति यह है कि 'जाती' का अर्थ 'समूह' लिया गया है जिसका कोई प्रमाण नहीं है। यही नहीं, अपने प्रतिपादित अर्थ पर टिप्पणी करते हुए टीकाकार ने लिख दिया – "ध्वनि, अवरेव, कवितगुण और कवितजाति – इन चारों को मीन कहा।" स्पष्ट है कि 'जाती' के सम्बंध में **मानस-पीयूष** के लेखक की धारणा उलझी हुई है।

---

1. डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा', **भारतीय साहित्यशास्त्र कोश**, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2003 ई., 'वृत्ति' शीर्षक।
2. **रामचरितमानस**, गीताप्रेस, गोरखपुर, मझला साइज, बीसवाँ संस्करण, 2034 वि., 1/36/8, पृ. 69।
3. **रामायण**, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 2014 ई., पृ. 54।
4. **रामचरितमानस**, टीकाकार : विजयानंद त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2004 ई., पृ. 146।
5. **मानस-पीयूष**, खंड 1, गीताप्रेस, गोरखपुर, सोलहवाँ पुनर्मुद्रण, 2067 वि., पृ. 570-73।

वस्तुतः 'जाती' का अर्थ स्वभावोक्ति है। स्वभावोक्ति के लिए 'जाति' शब्द संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रचलित था। वाङ्मय के दो भेद माने गये हैं – स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति, और चूँकि 'अवरेब' के रूप में वक्रोक्ति का उल्लेख स्वीकार किया गया है, इसलिए 'जाती' शब्द का अर्थ स्वभावोक्ति लेना ही उचित है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वक्रता से रहित होने के कारण स्वभावोक्ति काव्य-संसार से बाहर की वस्तु है। वक्रता से रहित होने पर भी उसमें वह रमणीयता तो होती ही है जो उसे गद्य से विशिष्ट बनाती है। वस्तुतः वक्रोक्ति के विना किंतु वक्रोक्ति के ही समतुल्य चमत्कार की सृष्टि स्वभावोक्ति है। भोज ने तो सम्पूर्ण अलंकार-समूह को तीन वर्गों में रखा है – वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति।[1] अतः ध्वनि, वक्रोक्ति और काव्यगुण के समान स्वभावोक्ति को भी काव्य का एक तत्त्व मानना सब प्रकार से उचित है। स्वभावोक्ति को अधिकांश प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मान्यता दी है। इसका सबसे प्रबल समर्थन महिमभट्ट ने किया है। उनके अनुसार वस्तु के दो रूप होते हैं – सामान्य और विशिष्ट। सामान्य रूप का ग्रहण सभी जनसाधारण करते हैं किंतु विशिष्ट रूप का उद्‌घाटन तो प्रातिभ कवियों का अंतर्नयन ही कर सकता है। यह विशिष्ट स्वभाव-वर्णन ही स्वभावोक्ति है।[2] इस प्रकार ध्वनि, वक्रोक्ति और काव्यगुण के समान स्वभावोक्ति भी काव्य की शोभा बढ़ानेवाली एक विशेषता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'जाती' (जाति) पद से तुलसीदास का यही अभिप्राय है।[3]

निष्कर्षतः, विवेच्य चौपाई का सटीक अर्थ इस प्रकार है – **ध्वनि, वक्रोक्ति, काव्यगुण और स्वभावोक्ति, ये ही रामचरितमानस-रूपी सरोवर में मन को हरनेवाली अनेक प्रकार की मछलियाँ हैं।**

---

1. डॉ. वी. राघवन, भोज'ज शृंगारप्रकाश, (चेन्नई, 1963), पृ. 137।
2. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, भाष्यकार : रेवाप्रसाद द्विवेदी (चौखम्बा, 1964), 2/113-20, पृ. 452-53।
3. विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य : डॉ. सियाराम तिवारी, तुलसीदास का आचार्यत्व (नयी दिल्ली, 1985), पृ. 62।

4

भूप सहस दस एकहि बारा

प्राचीन काव्य पर जब विचार होने लगता है तो उसको काव्य के रूप में न देखकर प्रायः इतिहास, दर्शन आदि के रूप में देखने लगते हैं। इस प्रवृत्ति के सबसे बड़े शिकार हुए हैं चंदवरदायी और तुलसीदास। चंदवरदायी के **पृथ्वीराज रासो** पर इस प्रकार विचार होता रहा है जैसे वह काव्य नहीं, इतिहास-ग्रंथ हो। इसी प्रकार **रामचरितमानस** के शब्द-शब्द का अभिधा में अर्थ लगाया जाता है मानो वह कोई प्रतिवेदन (रिपोर्ट) हो। **रामचरितमानस** के स्थलों का अर्थ करते हुए सामान्य बोलचाल के प्रयोगों और काव्य के प्रयोगों को सर्वथा विस्मृत कर दिया जाता है और उसमें कानून की भाषा की यथातथ्यता खोजी जाने लगती है। यह सत्य है कि **रामचरितमानस** काव्य के अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है, किंतु सत्य यह भी है कि वह जो कुछ भी है सब काव्य के कलेवर में है। अतः सबसे पहले काव्य के रूप में उसका अर्थ लेना होगा। हँसी तो तब आती है जब अत्यंत सामान्य वर्णन के प्रसंगों के अर्थ में भी खींचतान की जाती है और बात का बतंगड़ बना दिया जाता है। ऐसे ही स्थलों में से एक धनुषयज्ञ-प्रसंग की निम्नांकित चौपाई है

भूप सहस दस एकहि बारा।
लगे उठावन टरै न टारा।। — बाल., 250/1

जब बहुत राजे एक-एक कर धनुष उठाने के प्रयत्न में विफल हो गये तो ताव में आकर एक साथ बहुत राजे मिलकर उठाने लगे। प्रायः देखा जाता है कि कहीं बहुत-से लोग एकत्र हों और अलग-अलग व्यक्तियों से कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो रहा हो तो एक साथ कई व्यक्ति उसमें लग जाते

हैं। ऐसी ही बात उस समय हुई। जब राजा लोग अकेले-अकेले धनुष को उठाने में असमर्थ रहे तो बहुत राजे एक साथ उसे उठाने लगे। इसका वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि दस सहस्र राजे एक ही बार उसे उठाने का प्रयत्न करने लगे। तुलसीदास ने एक निश्चित संख्या दस सहस्र का प्रयोग क्यों किया? क्या उनको किसी दस्तावेज के आधार पर यह संख्या मालूम हुई? नहीं, 'दस सहस्र' का अभिप्राय है 'बहुत'। बहुत राजे एक साथ धनुष को उठाने का उद्योग करने लगे, यहाँ तुलसीदास का मंतव्य यही है।

अब विचारणीय है कि तुलसीदास के इस प्रयोग का औचित्य क्या है। यह प्रयोग सर्वथा उचित है। सामान्य बोलचाल में भी देखा जाता है कि कुछ निश्चित संख्याएँ अल्पता का तो कुछ अधिकता का बोध कराती हैं। अल्पता का बोध करानेवाली संख्याओं में दो और चार का उल्लेख किया जा सकता है। जीवन की अवधि को अल्प बताने के लिए यह कहते हुए सुना जाता है कि जीवन तो दो या चार ही दिनों का है। इसका अर्थ क्या यह होता है कि मनुष्य जन्म के दिन से गिनकर दो या चार ही दिन जीता है? ऐसे कथन का अर्थ विना किसी विचिकित्सा के लोग यही ग्रहण करते हैं कि मानव-जीवन बहुत कम दिनों का है। इसी प्रकार सात, दस, पच्चीस, पचास, सौ, हजार, दस हजार आदि संख्याएँ बाहुल्य का बोध कराती हैं। बाहुल्य की जितनी अधिक मात्रा अभीष्ट होती है उतनी बड़ी निश्चित संख्या का प्रयोग किया जाता है।

तुलसीदास ने भी **मानस** में ही इस प्रकार के अनेक प्रयोग किये हैं। दो-एक द्रष्टव्य हैं। जनकपुर से दशरथ की विदाई हो रही है। जनक द्वारा प्रदत्त उपहारों का वर्णन है –

तुरग लाख रथ सहस पचीसा।
सकल सँवारे नख अरु सीसा।।
मत्त सहस दस सिंधुर साजे।
जिन्हहि देखि दिसिकुंजर लाजे।। – बाल., 332/6-7

तुलसीदास कहते हैं कि जनक ने दशरथ को एक लाख घोड़े, पचीस हजार रथ और दस हजार हाथी प्रदान किये। यदि एक लाख, पचीस हजार और दस हजार का अभिधेय अर्थ लिया जायगा तो प्रश्न उठता है कि तुलसीदास को ये आँकड़े कहाँ से प्राप्त हुए। तुलसीदास यदि कविता की भाषा का प्रयोग न कर तथ्य प्रस्तुत कर रहे थे तब तो इन आँकड़ों का अवश्य ही कोई प्रमाण होना चाहिए क्योंकि तथ्य (fact) की बात तुलसीदास मिथ्या नहीं कहेंगे। निश्चय ही ये संख्यावाचक शब्द घोड़े, रथ और हाथी का आधिक्य सूचित करते हैं, न कि उनकी गणना की हुई निश्चित संख्या बतलाते हैं।

एक दूसरा प्रसंग देखा जाय। कुम्भकर्ण के वध का वर्णन है –

खैंचि धनुष सर सत संधाने।
छूटे तीर सरीर समाने।। – लंका, 69/7

राम ने धनुष तानकर कुम्भकर्ण पर सौ बाण चलाये। कुम्भकर्ण की जिस करालता का वर्णन है उसमें क्या राम को इतना इतमीनान रहा होगा कि उन्होंने एक सौ ही बाण चलाये, न कम और न अधिक। यदि युद्ध में इस प्रकार गिन-गिनकर बाण चलाये जायेंगे तो वह युद्ध है या खेल? और, अंत में तो यह प्रश्न रह ही जाता है कि यदि यह आँकड़ा है तो फिर तुलसीदास को यह प्राप्त कहाँ से हुआ।

राम-रावण-युद्ध में फिर इसी प्रकार निश्चित संख्यावाचक शब्दों के प्रयोग हुए हैं –

तब रावण दस सूल चलावा।
बाजि चारि महि मारि गिरावा।।
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक।
खैंचि सरासन छाड़े सायक।।
रावन सिर सरोजबन चारी।
चलि रघुबीर सिलीमुख धारी।।

दस दस बान भाल दस मारे।
निसरि गए चले रुधिर पनारे।। – लंका., 91/6-8

यदि यहाँ यह अर्थ लिया जाय कि रावण ने पहले गिनकर दस शूल चलाये और चूँकि उसने दस ही शूल चलाये, इसलिए राम ने भी गिन-गिनकर उसके प्रत्येक शिर में दस-दस ही बाण मारे, तो राम-रावण का यह युद्ध हो रहा था अथवा दोनों कोई खेल खेल रहे थे!

इस प्रकार के प्रयोग करनेवाले तुलसीदास कोई अकेले नहीं हैं। सभी भाषाओं और सभी कालों के कवियों ने इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। जायसी ने लिखा है –

दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा।
पुनि सोइ सरवर, सोइ हंसा।।
– **पदमावत**, नागमती वियोगखंड, 3

अर्थात् दस दिनों के लिए सरोवर सूखकर नष्ट हो जाता है किंतु फिर वही सरोवर होता है और वे ही हंस होते हैं। क्या यहाँ यह अर्थ लिया जायगा कि गिनकर कुल दस ही दिनों के लिए ग्रीष्म ऋतु में सरोवर सूखता है और पुनः उसमें जल भर जाता है? सच तो यह है कि दस दिनों से अभिप्राय यहाँ अल्प दिनों से है। सरोवर सूखता है अवश्य और तब हंस को निश्चय ही कष्ट होता है किंतु सरोवर बहुत कम दिनों के लिए सूखता है, फिर उमसें जल भर जाता है और तब हंस को सुख ही सुख है।

ऐसा नहीं कि केवल प्राचीन कवियों ने ही ऐसा प्रयोग किया हो। सुमित्रानंदन पंत का एक प्रयोग देखिए–

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष विजन वन!
–यही तो है असार संसार, –पल्लव, पृ. 101

संसार की परिवर्तनशीलता का वर्णन है। क्या कवि का यहाँ यह अभिप्राय

है कि गिनकर एक सौ वर्षों तक कोई स्थान आबाद रहता है और तत्पश्चात् फिर एक सौ वर्षों तक वहाँ उजाड़ हो जाता है और यही एक-एक सौ वर्षों का क्रम चक्राकार रूप में चलता रहता है?

विलियम वर्ड्स्वर्थ की एक प्रसिद्ध कविता है 'Daffodils'। उसमें वे लिखते हैं –

When all at once I saw a crowd,
A host of golden daffodils,
x x x
Ten Thousand saw I at a glance
Tossing their heads in sprightly dance.

क्या वर्ड्स्वर्थ ने एक ही दृष्टि में देख लिया कि दस ही हजार डैफोडिल्स थे, न एक कम और न एक अधिक? यदि वे कहना भी चाहते कि दस ही हजार डैफोडिल्स वहाँ थे तो वे यह कैसे कहते कि एक ही दृष्टि में उन्होंने देख लिया? दस हजार को गिनने में कम से कम आधा घंटा भी तो उन्हें लगता! पर वे जो विवरण दे रहे हैं वह तो एक ही दृष्टि में देखे गये दृश्य का है। स्पष्ट है कि वे डैफोडिल्स का बाहुल्य सूचित करना चाहते हैं। वे कहना चाहते हैं कि वहाँ बहुत अधिक डैफोडिल्स थे।

इसी प्रकार तुलसीदास की सम्बद्ध चौपाई में 'सहस दस' का शाब्दिक अर्थ दस हजार ही है किंतु उनका अभिप्राय यही है कि बहुत राजे एक साथ धनुष को उठाने का प्रयत्न करने लगे किंतु वह टस से मस नहीं हुआ।

इस स्थल पर एक कुतर्क यह दिया जाता है कि जब एक से अधिक राजे एक साथ प्रयत्न करने लगे और तब कदाचित् धनुष टूट जाता तो विवाह किससे होता। यह शंका कुरुचिपूर्ण है। प्रण स्पष्ट था–

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा।
राज समाज आजु जोइ तोरा।।
त्रिभुवनजय समेत बैदेही।
बिनहि बिचार बरै हठि तेही।।

–बाल., 249/3-4

समुपस्थित राजाओं में से जो कोई धनुष को तोड़ देगा उसीको सीता जी वरण करेंगी। स्पष्ट है कि किसी एक के तोड़ने की बात है, न कि कई के एक साथ मिलकर तोड़ने से भी प्रतिज्ञा पूरी हो जाती। जनक साफ-साफ कह रहे हैं कि आज राजाओं का जो समाज यहाँ उपस्थित है उनमें से **जो कोई** धनुष को तोड़ देगा **उसीको** सीता विना विचार किये वरण कर लेंगी। 'जोइ' और 'तेही', ये दोनों पद एकवचन के ही बोधक हैं। फिर, बहुत राजे एक साथ क्यों प्रयत्न करने लगे? अलग-अलग अनेक बलशाली राजाओं ने जब प्रयत्न करके देख लिया और धनुष न उठा तो सबका ध्यान इसी बात पर केंद्रित हो गया कि आखिर क्या रहस्य है कि धनुष नहीं उठता है। उस समय उनके सामने सीता से विवाह की बात नहीं, धनुष की गुरुता और उनका अपना बल था। वे सब अपने-अपने बल की आजमाइश करने के लिए आतुर होकर धनुष पर टूट पड़े, उन्हें यह धैर्य न रहा कि एक व्यक्ति चेष्टा करके हट जाय, तब दूसरा प्रयत्न करे। इसी होड़ में बहुत सारे राजे एक साथ धनुष को उठाने में लग गये। उनकी संख्या की अधिकता सूचित करने के लिए तुलसीदास कहते हैं कि दस सहस्र राजे एक साथ धनुष को उठाने का प्रयत्न करने लगे। वस्तुतः तुलसीदास यह कहना चाहते हैं कि वह धनुष तो केवल राम से टूटने के लिए बना था, दूसरे दस हजार राजे भी एक साथ मिलकर उसको हिला तक नहीं सकते थे।

5

मरम बचन जब सीता बोला

सीताहरण की परिस्थिति का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने एक चौपाई में सीताजी के लिए पुंल्लिंग क्रिया-पद का प्रयोग किया है जो इस प्रकार है –

मरम बचन जब सीता बोला।
हरिप्रेरित लछिमन मन डोला।। – अरण्य. 27/5

मारीच-वध का प्रसंग है। श्री राम के बाण से मरते हुए मारीच ने लक्ष्मण का नाम लेकर पुकारा। सीता जी को स्वभावतः ही भ्रम हुआ कि श्री राम पर कोई विपत्ति आयी है जिससे वे लक्ष्मण को पुकार रहे हैं। उन्होंने लक्ष्मण से वहाँ जाने का अनुरोध किया। लक्ष्मण ने जब उन्हें आश्वस्त करना चाहा तो उन्हें बुरा लगा और घबराहट में उन्होंने मर्म को छूनेवाली बात कह दी। यहाँ विवाद इस पर है कि कर्ता-पद 'सीता' स्त्रीलिंग है, फिर उसके लिए पुंल्लिंग क्रिया-पद 'बोला' का प्रयोग क्यों हुआ।

यहाँ जो भ्रांति होती है उसका कारण है खड़ी बोली हिंदी का व्याकरण। खड़ी बोली हिंदी में 'बोलना' क्रिया के सकर्मक होने पर भी भूतकाल के कतिपय भेदों में इसके साथ 'ने' विभक्ति नहीं लगायी जाती और उसके कारण क्रिया का लिंग-वचन कर्ता के लिंग-वचन के अनुसार होता है। इस नियम के अनुसार खड़ी बोली हिंदी में "सीता मर्म वचन बोली" लिखा जायगा। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि तुलसीदास अवधी लिख रहे थे, न कि खड़ी बोली हिंदी। अवधी में 'ने' का चिह्न नहीं होता। इसलिए भूतकाल के सम्बंधित भेदों में भी तुलसीदास क्रिया का लिंग-वचन कर्ता के अनुसार न रखकर कर्म के अनुसार रखते हैं। यहाँ क्रिया सामान्य भूतकाल में है, कर्ता है 'सीता', कर्म है 'वचन' जो पुंल्लिंग

है, अतः कर्ता 'सीता' के स्त्रीलिंग रहने पर भी कवि ने क्रिया-रूप रखा 'वचन' के अनुसार जो पुंल्लिंग और एकवचन है। ऐसा प्रयोग **रामचरितमानस** में अन्यत्र भी हुआ है – "फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा" (बाल. 53/5)। यहाँ कर्तास्थानीय हैं सती जी। कर्ता-पद अनुक्त है, पर प्रकरण से वह स्पष्ट है। 'प्रभु' पद कर्म है जो पुंल्लिंग है। अतः कर्ता के स्त्रीलिंग रहने पर भी क्रिया-पद 'देखा' पुंल्लिंग-रूप है।

सम्पूर्ण **रामचरितमानस** में तुलसीदास की यही प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे सामान्य भूतकाल में क्रिया को कर्म के लिंग-वचन के अनुसार रखते हैं। कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं –

(1) तब सीता पूजी सुरसरी – लंका. 120/8

यहाँ कर्ता-पद 'सीता' स्त्रीलिंग है, कर्म-पद 'सुरसरी' स्त्रीलिंग है, इसलिए क्रिया-पद 'पूजी' भी स्त्रीलिंग-रूप है।

(2) तापसबेष जनक सिय देखी। – अयो. 285/1

यहाँ कर्ता-पद 'जनक' पुंल्लिंग और कर्म-पद 'सिय' स्त्रीलिंग है, अतः कर्म-पद के लिंग के अनुसार क्रिया-पद 'देखी' भी स्त्रीलिंग-रूप है।

(3) पुररम्यता राम जब देखी। – बाल. 211/6

यहाँ कर्ता-पद 'राम' पुंल्लिंग, कर्म-पद 'रम्यता' स्त्रीलिंग और क्रिया-पद 'देखी' भी स्त्रीलिंग-रूप है। कर्म-पद के स्त्रीलिंग होने के कारण क्रिया-पद स्त्रीलिंग है।

(4) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत –बाल. दोहा 30

यहाँ कर्ता-पद उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम 'मैं' है जो कवि के द्वारा अपने लिए प्रयुक्त है। कर्म-पद है 'कथा' जिसके स्त्रीलिंग होने के कारण क्रिया-पद 'सुनी' स्त्रीलिंग-रूप में है।

(5) गुर नृप भरत सभा अवलोकी। –अयो. 311/3

इस अर्द्धाली का अर्थ है – श्री राम ने गुरु वसिष्ठ, राजा जनक, भाई भरत [के साथ-साथ] सारी सभा देखी। यहाँ कर्ता के स्थान पर 'राम' है जो पद अनुक्त है। कर्म के स्थान पर क्रमशः तीन पद हैं – गुरु, नृप, भरत और सभा। इनमेंसे अंतिम पद 'सभा' के अनुसार स्त्रीलिंग क्रिया रखी गयी – 'अवलोकी'।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि क्रिया के सामान्य भूतकाल में रहने पर तुलसीदास उसका लिंग कर्म-पद के लिंग के अनुसार रखते हैं। इसीलिए "मरम बचन जब सीता बोला" बिल्कुल सही है क्योंकि यहाँ कर्म-पद 'बचन' पुंल्लिंग है।

6

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना

यह प्रकरण अरण्यकांड में आया है। यह कबंध के प्रति श्री राम की उक्ति है। पूरी चौपाई इस प्रकार है –

पूजिअ बिप्र सीलगुन हीना।
सूद्र न गुनगन ज्ञान प्रबीना।। –अरण्य. 33/2

गीताप्रेस के संस्करण में इस चौपाई का अर्थ इस प्रकार दिया गया है "शील और गुण से हीन भी ब्राह्मण पूजनीय है। और गुणगणों से युक्त और ज्ञान में निपुण भी शूद्र पूजनीय नहीं है।" यहाँ विवाद इस बात पर है कि शीलगुण से हीन विप्र को पूजनीय और गुणगणों से युक्त एवं ज्ञानप्रवीण शूद्र को अपूजनीय कैसे कहा जा रहा है। इस एक्कीसवीं शताब्दी में यह बात किसी को भी खटक सकती है। यहाँ विचारणीय है कि तुलसीदास का मंतव्य क्या है। तुलसीदास के मंतव्य को हृदयंगम करने के लिए इस चौपाई में प्रयुक्त इन पाँच शब्दों के अर्थ पर गम्भीर विमर्श अपेक्षित है – विप्र, शील, गुण, शूद्र और ज्ञान!

विप्र

'विप्र' की दो परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। एक के अनुसार विद्या से विप्रत्व की प्राप्ति होती है –

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।[1]

---

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिंदी कोश, में 'ब्राह्मण' शब्द।

अर्थात् जन्म से मनुष्य शूद्र रूप में होता है, संस्कारों से वह द्विज कहलाता है। विद्या प्राप्त करने से वह विप्रत्व पाता है और उक्त तीनों से वह 'श्रोत्रिय' कहा जाता है।

एक अन्य परिभाषा इस प्रकार है –

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदपाठाद् भवेद् विप्रः ब्रह्मज्ञानाच्च ब्राह्मणः।।[1]

अर्थात् मनुष्य जन्म के समय शूद्र होता है, फिर संस्कार करने से द्विज कहलाता है। वेद पढ़ने से वह विप्र और ब्रह्म का ज्ञानी होने से ब्राह्मण होता है।

प्रथम परिभाषा के अनुसार विद्या से और द्वितीय के अनुसार वेद-पाठ से विप्रत्व की प्राप्ति होती है। दूसरी परिभाषा व्यावहारिक नहीं कही जा सकती। प्राचीन काल में शूद्र को तो वेद पढ़ने का अधिकार ही नहीं दिया गया था, फिर वह कैसे पढ़ता? उसको वेद पढ़ने का अधिकार होता और सुविधा भी होती, फिर भी वह नहीं पढ़ता, तब न उसका दोष होता? सत्य यह है कि 'विप्र', 'द्विज' और 'ब्राह्मण' की यह परिभाषा सिद्धांत में ही रह गयी, व्यवहार में ये तीनों शब्द ब्राह्मण का बोध कराने लगे। तुलसीदास ने भी इन तीनों शब्दों का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नहीं किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी ब्राह्मण के कर्म बताये गये हैं –

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। – 18/42

अर्थात् उनमें अंतःकरण का निग्रह, इंद्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इंद्रियाँ और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्व का अनुभव भी, ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। स्वाभाविक कर्म कहने का तात्पर्य यह है कि ये गुण उनमें जन्मजात होते हैं, इन्हें ब्राह्मण जन्म से ही धारण करता है, अर्जित करने की आवश्यकता नहीं होती।

---

1. डॉ. राजबली पांडेय, हिंदू धर्मकोश (लखनऊ, 2003), पृ. 336।

तुलसीदास इस अर्थ में भी 'ब्राह्मण' या उसके किसी अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग नहीं करते।

प्रस्तुत प्रसंग में 'विप्र' शब्द से तुलसीदास को 'मुनि' अर्थ अभीष्ट है। 'विप्र' शब्द का कोशगत एक अर्थ 'मुनि' है भी (द्रष्टव्य : आप्टे का **संस्कृत-हिंदी कोश**)। 'विप्र' शब्द का यहाँ 'मुनि' अर्थ लेना एक अन्य कारण से भी उचित है। यह उक्ति कबंध के प्रति श्री राम की है। सीता जी को खोजते हुए राम-लक्ष्मण जटायु से मिलने के बाद जब आगे बढ़ते हैं तो कबंध नामक राक्षस से उनका सामना होता है। उसको आते हुए देखकर श्री राम उसका वध कर देते हैं। मरता हुआ कबंध उनसे कहता है कि मैं गंधर्व था और दुर्वासा ऋषि के शाप से मैं ऐसा हो गया था। अतः श्री राम कबंध से जो कुछ भी कहते हैं वह मुख्यतः दुर्वासा एवं कतिपय अन्य ऋषियों को ध्यान में रखकर ही कह रहे हैं। इसलिए मुख्यतः दुर्वासा एवं कतिपय अन्य ऋषियों के व्यक्तित्व की विशेषताओं के अनुसार ही इस चौपाई का अर्थ लगाना होगा। श्री राम कबंध से कहते हैं–

श्रापत ताड़त परुष कहंता।
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।। –अरण्य. 33/1

अर्थात् शाप देता हुआ, ताड़ित करता हुआ और कठोर वचन कहता हुआ भी विप्र पूज्य है, ऐसा संत कहते हैं। कहना नहीं होगा कि ये दुर्वासा, भृगु और परशुराम जैसे ऋषियों के चरित्र की विशेषताएँ थीं। दुर्वासा ऋषि का परिचय इस प्रकार दिया गया है– "बड़े उग्र तथा क्रोधी स्वभाव का एक ऋषि। इसीके नाम से, क्रोधी एवं दूसरे को सतानेवाले मनुष्य को 'दुर्वासस्' कहने की लोकरीति प्रचलित हो गयी है।"[1] दुर्वासा ऋषि शाप देने के लिए प्रसिद्ध हैं, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। इसीलिए प्रथम शब्द 'श्रापत' से तुलसीदास दुर्वासा ऋषि की ओर संकेत करते हैं।

दूसरा शब्द है 'ताड़त' जिसका अर्थ है 'मारना'। इससे भृगु की ओर संकेत किया जा रहा है। भृगु सप्तर्षियों में एक थे और ये भी दुर्वासा के

1. म.म. सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश (पुणे, 1964), पृ. 285।

समान शाप देने के लिए तो प्रसिद्ध थे ही, मारने के लिए भी प्रसिद्ध थे जिसकी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। एक बार स्वायंभुव मनु ने एक यज्ञ किया जिसमें यह विवाद खड़ा हो गया कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में कौन श्रेष्ठ हैं। भृगु वहाँ उपस्थित थे, अतः इस बात का पता लगाने का भार इन्हें ही सौंपा गया। भृगु सर्वप्रथम कैलाश पर्वत पर शंकर जी से मिलने पहुँचे। उस समय वे पार्वती के साथ क्रीड़ा में निमग्न थे, अतः नंदी ने इन्हें रोक दिया। इस पर इन्होंने शंकर जी को शाप दिया कि तुम्हारे शरीर का आकार लिंग-रूप में माना जायेगा तथा तुम्हारे ऊपर चढ़ाये हुए जल को लेकर उसे कोई व्यक्ति तीर्थ-जल के रूप में पान न करेगा। इसके उपरांत ये ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा जी ने न तो इनको नमस्कार किया और न उचित सम्मान दिया। इस पर इन्होंने ब्रह्मा जी को शाप दिया कि तुम्हारा पूजन कोई न करेगा। अंत में ये विष्णु जी के पास पहुँचे। उस समय वे सो रहे थे, अतः कैसे इनका स्वागत करते? फिर भी क्रुद्ध होकर भृगु ने विष्णु भगवान् के सीने में कसकर एक लात मार दी। विष्णु भगवान् की नींद टूट गयी और उन्होंने भृगु को प्रणाम कर बड़ी विनम्रता से पूछा कि आपके पैर में तो चोट नहीं लगी। विष्णु जी की विनम्रता से भृगु बहुत प्रसन्न हुए और इन्होंने उनको सर्वश्रेष्ठ देवता की उपाधि दी। भृगु के पद-प्रहार को विष्णु भगवान् ने 'श्रीवत्स' चिह्न के रूप में धारण किया। भृगु ऋषि के सम्बंध में यह लात मारनेवाली घटना सबसे अधिक प्रसिद्ध है। 'ताड़त' पद से तुलसीदास को भृगु ऋषि द्वारा किये गये इसी व्यवहार की ओर संकेत करना अभीष्ट है।

अब एक शब्द बच जाता है 'परुष' जिसका अर्थ है 'कठोर'। कठोर वचन बोलने के लिए परशुराम जी प्रसिद्ध हैं। स्वयं तुलसीदास ने भी उनको इसी रूप में चित्रित किया है। उन्होंने लक्ष्मण जी से कहलाया है –

कोटि कुलिस सम बचनु तुम्हारा।
ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा।। –बाल. 272/8

अर्थात् आपका एक-एक वचन ही करोड़ों वज्र के समान है, धनुष-बाण

और कुठार तो आप व्यर्थ ही धारण करते हैं। परशुराम जी कठोर वाणी बोलने के लिए प्रसिद्ध थे, इसके लिए इस चौपाई से बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है? निष्कर्ष यह है कि "श्रापत ताड़त परुष कहंता" – तुलसीदास यह बात क्रमशः दुर्वासा, भृगु और परशुराम– जैसे मुनियों को ध्यान में रखकर कह रहे हैं। अतः प्रस्तुत प्रसंग में 'विप्र' शब्द का 'मुनि' अर्थ लेना ही उपयुक्त है जो कोश-सम्मत और संदर्भ-संगत है।

यहाँ 'विप्र' शब्द के 'मुनि' अर्थ ग्रहण करने का सबसे बड़ा औचित्य यह है कि तुलसीदास ने 'मुनि' के अर्थ में 'विप्र' शब्द का प्रयोग **मानस** में ही अन्यत्र किया भी है। बालकांड में दशरथ और विश्वामित्र का वार्तालाप देखा जाय। विश्वामित्र राक्षसों का वध कराने के लिए दशरथ से राम-लक्ष्मण माँगने आये हैं। यह अप्रिय अनुरोध सुनकर दशरथ कहते हैं –

सुनि राजा अति अप्रिय बानी।
हृदय कंप मुखदुति कुमुलानी।।
चौथें पन पाएउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेउ बिचारी।।[1]

[इस अत्यंत अप्रिय वाणी को सुनकर राजा का हृदय काँप उठा और उनके मुख की ज्योति मलिन हो गयी। उन्होंने कहा – हे विप्र (मुनि)! मैंने चौथेपन में चार पुत्र पाये हैं, आपने विचार कर बात नहीं कही।] यहाँ दशरथ ने विश्वामित्र को जो 'विप्र' सम्बोधन किया है, उसका दो कारणों से 'ब्राह्मण' अर्थ लेना उचित नहीं होगा। पहली बात तो यह है कि विश्वामित्र का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था – "कान्यकुब्ज देश के कुशिक नामक सुविख्यात क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ विश्वामित्र ज्ञानोपासना एवं तपःसामर्थ्य के कारण एक श्रेष्ठतम ऋषि एवं वैदिक सूक्तद्रष्टा आचार्य बन गया।"[2] तपस्या के बल से इन्होंने ब्राह्मणत्व भले प्राप्त कर लिया था, पर ये क्षत्रिय ऋषि के रूप में ही प्रसिद्ध थे। अतः दशरथ इनको 'ब्राह्मण'

1. **रामचरितमानस**, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 1/207/1-2, पृ. 84।
2. म.म. सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, **भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश** (पुणे, 1964 ई.), पृ. 870।

शब्द से सम्बोधित नहीं करते। दूसरी, और सबसे बड़ी बात यह है कि इसके पहले तो दशरथ ने इनको बार-बार 'मुनि' कहा है, फिर वे 'विप्र' (ब्राह्मण) जैसे जातिवाचक शब्द से कैसे सम्बोधित करते? यह तो विश्वामित्र का अपमान करना होता! निस्संदेह तुलसीदास को यहाँ 'विप्र' शब्द से 'मुनि' अर्थ ही अभीष्ट है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि तुलसीदास की शब्द-चेतना में 'विप्र' शब्द का एक अर्थ 'मुनि' भी है और इस अर्थ में उन्होंने यथास्थान 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया भी है जिनमें से एक स्थल यह "पूजिअ बिप्र..." भी है।

शीलगुण

सभी प्रसिद्ध टीकाकारों ने इस शब्द-युग्म का अर्थ 'शील और गुण' इस द्वंद्व समास के रूप में ग्रहण किया है। द्वंद्व समास में मिलनेवाले सभी पद समान महत्त्व के होते हैं। अतः द्वंद्व समास के रूप में इस शब्द-युग्म को देखने पर ऐसा समझा जाएगा कि इन दोनों शब्दों से तुलसीदास दो भिन्न बातें कहना चाहते हैं। कोई-कोई इस शब्द का अर्थ 'शील का गुण' अर्थात् षष्ठी तत्पुरुष समास के रूप में ग्रहण करते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि 'शील का गुण' अर्थ लेने पर दूसरी अर्द्धाली स्थित 'गुण' शब्द की संगति नहीं बैठायी जा सकेगी। इसलिए 'शील गुण' का द्वंद्व समास के रूप में अर्थात् 'शील और गुण' अर्थ लेना ही उचित है।

पहले 'शील' शब्द पर विचार किया जाय। 'शील' संस्कृत का शब्द है और वहाँ इसके अनेक अर्थ मिलते हैं जिनमें से एक अर्थ है 'अच्छा स्वभाव'। आप्टे ने भी इस शब्द का एक यह अर्थ स्वीकार किया है। आज भी लोक में इस शब्द का सबसे प्रचलित अर्थ यही है। तुलसीदास को भी इस शब्द का यही अर्थ अभीष्ट रहा है। **भगवद्गुणदर्पण** में शील का लक्षण इस प्रकार दिया गया है –

हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि।
महतोऽछिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः।।[1]

---

1. वियोगी हरि (स.), विनय-पत्रिका (नयी दिल्ली, 2008), पृ. 256 पर उद्धृत।

अर्थात् महान् व्यक्ति में दीन, हीन, मलिन, घृणित तथा निन्दनीय व्यक्तियों के संपर्क के बाद भी उनके दुर्गुणों (छिद्रों) का प्रभाव नहीं पड़ता – यही सुशीलता या शील का लक्षण सामर्थ्यशाली लोगों ने माना है। इससे ध्वनित होता है कि सभी प्रकार के लोगों को, विना भेद-भाव के, अपनाना शील है।

तुलसीदास को भी 'शील' शब्द से स्वभाव की ये ही विशेषताएँ अभिप्रेत हैं। जहाँ भी उन्होंने श्री राम को शीलनिधान कहा है वहाँ उनके ध्यान में श्री राम के स्वभाव की ये ही विशेषताएँ रही हैं कि उन्होंने निषाद को गले लगाया, अस्पृश्य पक्षी जटायु को अपनी गोद में लिया, शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया, राक्षस (विभीषण) एवं वानरों-भालुओं को अपना मित्र बनाया। अतएव प्रस्तुत प्रसंग में 'शील' का 'अच्छा स्वभाव' अर्थ ही उपयुक्त है। 'अच्छा स्वभाव' की विशेषताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है क्षमा, दया, उदारता, सर्वभूतहित कामना, सबको सम्मान देना, किसी का अनादर न करना आदि सद्गुणों को शील का लक्षण माना जा सकता है।

'गुण' शब्द 'शील' के साथ संयुक्त नहीं है, अतः उसका भी अर्थ स्वतंत्र रूप से विचारणीय है। 'गुण' शब्द का एक अर्थ होता है 'हुनर' या 'कला'[1] जिसे अँगरेजी में 'स्किल' (skill) कहा जाता है। यह किसी कार्य को भलीभाँति सम्पादित करने का कौशल है, जैसे गृह-निर्माण की कला, कृषि-कार्य करने की कला, काष्ठ से विविध प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ बनाने की कला आदि। प्रस्तुत प्रसंग में तुलसीदास को 'गुण' शब्द का यही अर्थ अभीष्ट है।

शूद्र

'शूद्र' शब्द का अर्थ तथाकथित शूद्र जाति के माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण शूद्र कहलानेवाले व्यक्ति से नहीं है। इसके अर्थ-निर्धारण के लिए हिंदी के कोश-ग्रंथों को देखना अत्यावश्यक है। **संक्षिप्त हिंदी**

---

1. द्रष्टव्य : **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर** (ना.प्र.स., एकादश संस्करण)।

शब्दसागर में इस शब्द के तीन अर्थ दिये गये हैं– (1) आर्यों के चार वर्णों में से चौथा और अंतिम वर्ण, (2) शूद्र जाति का पुरुष और (3) खराब, निकृष्ट, अछूत। **बृहत् हिंदी कोश** ने इस शब्द के ये तीन अर्थ स्वीकार किये हैं – (1) वैदिक आर्यों द्वारा निर्धारित वर्ण-व्यवस्था में चतुर्थ वर्ण, (2) अछूत, हरिजन और (3) निम्न कोटि का व्यक्ति। यहाँ तुलसीदास का अभिप्राय इन दोनों कोशों में दिये गये तीसरे अर्थ से है। अर्थात् यहाँ तुलसीदास को 'शूद्र' शब्द से निकृष्ट अथवा निम्न कोटि का व्यक्ति ही अभीष्ट है जो आजकल के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहे जानेवाले किसी भी वर्ग में उत्पन्न हुआ व्यक्ति हो सकता है।

ज्ञान

यहाँ 'ज्ञान' का शाब्दिक अर्थ है 'जानकारी' और यह पूर्वपद 'गुनगन' और अपर पद 'प्रबीना' से जुड़ा हुआ है। 'गुण' को बहुवचन बनाने के लिए उसमें 'गण' जोड़ा गया है। 'गुन गन ज्ञान प्रबीना' का अर्थ है– गुणों की जानकारी में प्रवीण, अर्थात् अनेक हुनरों अथवा कलाओं की सम्यक् जानकारी में निपुण। इस प्रकार सम्पूर्ण अर्द्धाली का अर्थ होगा – जो शूद्र अर्थात् निकृष्ट व्यक्ति है वह अनेक कलाओं में निपुण रहने पर भी मुनि के समान पूजनीय नहीं होता है।

अब सम्पूर्ण चौपाई का अर्थ देखा जाय। वह इस प्रकार होगा – **अच्छे स्वभाव का न होने और उनमें कोई हुनर नहीं रहने पर भी मुनि पूजनीय हैं। इसके विपरीत, जो निकृष्ट अर्थात् चरित्र से गर्हित है वह अनेक हुनरों की जानकारी रखने पर भी मुनि के समान पूजनीय नहीं है।** यहाँ सबसे पहले तो यही विचारणीय है कि श्री राम को कबंध के प्रति ऐसा कहने की क्या आवश्यकता पड़ी, उन्होंने मुनि और शूद्र पर ऐसी टिप्पणी क्यों की। इसका उत्तर यह है कि मरते हुए कबंध ने दुर्वासा के शाप का उल्लेख किया है। यद्यपि कबंध ने केवल इतना ही कहा है कि "दुर्बासा मोहि दीन्ही श्रापा", उसके कथन में दुर्वासा के प्रति स्पष्ट रूप से कोई शिकायत का भाव नहीं है तथापि उसकी

व्यंजना तो हो ही रही है! कबंध के कथन से यह तो ध्वनित हो ही रहा है कि मैं ऐसा था नहीं, दुर्वासा के शाप से ऐसा भयंकर राक्षस हो गया। अतएव उसके मन के कोने में छिपी हुई इस शिकायत को दूर करने के लिए ही श्री राम को मुनियों के विषय में ऐसा कहना पड़ा है।

वाल्मीकीय **रामायण** में कबंध ने स्थूलशिरा नामक ऋषि का नाम लिया है।[1] **मानस** में यह नहीं बतलाया गया है कि दुर्वासा ने कबंध को ऐसा शाप क्यों दिया किंतु वाल्मीकीय **रामायण** में कबंध इसका कारण बतलाता है। वह कहता है कि उसका मूल शरीर सूर्य, चंद्रमा और इन्द्र के समान था किंतु अहंकार के कारण भयंकर राक्षस का रूप धारण करके वन में रहनेवाले ऋषियों को डराया करता था। इसी सिलसिले में उसने एक दिन स्थूलशिरा नामक ऋषि के साथ यही बर्ताव कर दिया। इसपर मुनि ने उसे शाप दे दिया कि आज से सदा के लिए तुम्हारा यही क्रूर और निंदित रूप रह जाय। यहाँ कबंध के कथन में मुनि के प्रति शिकायत का भाव न होकर अपने ऊपर पश्चात्ताप का ही भाव व्यंजित हो रहा है। **अध्यात्मरामायण** में कबंध कहता है कि वह पूर्व काल में गंधर्वराज था और अष्टावक्र मुनि को देखकर हँसने के कारण उनके शाप से राक्षस बन गया।[2] **आनन्दरामायण** में भी ठीक यही कथा है।[3] इसीलिए तुलसीदास मुनियों के चरित्र का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। आज के बुद्धिजीवियों को यह बात खटकती है कि मुनियों का स्वभाव ठीक न रहने पर भी उनको पूज्य कैसे बतलाया जा रहा है। इसको तर्क से तो सिद्ध नहीं किया जा सकता किंतु लोकव्यवहार में तो यही देखा जाता है। किसी भी ऋषि को उनके खराब व्यवहार के कारण अपूज्य नहीं माना गया। ऊपर भृगु ऋषि का प्रसंग आया है। इसमें विष्णु भगवान् की तो कोई गलती न थी। वे सोये हुए थे तो कैसे भृगु ऋषि का स्वागत करते? इसमें तो भृगु ऋषि की ही गलती थी कि वे धड़धड़ाये हुए विष्णु भगवान् के शयनकक्ष मे ही घुस

---

1. वाल्मीकीय रामायण (गीताप्रेस), अरण्यकांड, एकहत्तरवाँ सर्ग।
2. अरण्य. 9/15-17।
3. सार काण्डम् 8/153-154।

गये और उन्हें सोया हुआ देखकर भी उनके हृदय में लात मार दी! फिर भी, क्रोध न करके विष्णु भगवान् यह संदेश दे रहे हैं कि मुनियों का स्वभाव खराब होने पर भी वे पूज्य हैं। उनका संदेश लोकमानस में सहज स्वीकृत है। भृगु, दुर्वासा, परशुराम आदि कभी भी अपूज्य नहीं माने गये। ऋषियों-मुनियों की पूजनीयता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वे देवताओं को भी शाप देने का अधिकार और क्षमता रखते थे।

यह तो शील की बात हुई, जहाँ तक गुण की बात है, उसकी तो ऋषियों को आवश्यकता ही न थी। 'गुण' का यहाँ अर्थ है जीवनयापन के लिए व्यवहारोपयोगी कार्यों को सम्पादित करने का कौशल, यथा कृषि-कार्य, गृह-निर्माण-कार्य आदि। इन सबकी जानकारी रखने की तो मुनियों को आवश्यकता ही न थी। वे तो तपोधन थे, वन में रहते थे, वहाँ जो कंद- मूल-फल उपलब्ध थे उन्हें खाकर विरक्त भाव से रहते थे और तपस्या करते थे। उन्हें लौकिक विषयों की जानकारी रखने की जरूरत ही क्या थी? इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जो शूद्र है अर्थात् आचरण से निकृष्ट है, वह लौकिक विषयों में पारंगत होने पर भी मुनि के समान पूजनीय नहीं है।

लोकमत भी यही कहता है कि जो दुर्जन है अर्थात् जो आचरण से भ्रष्ट है, वह त्याग देने योग्य है। भर्तृहरि कहते हैं –

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः।।[1]

अर्थात् दुर्जन विद्यावान् है तो भी त्याग देने योग्य है। क्या मणि से भूषित सर्प भयंकर नहीं होता?

निष्कर्षतः, विवेच्य चौपाई पर जो विवाद है वह शब्द का सही अर्थ नहीं समझने के कारण है। महाकवि तुलसीदास में केवल कविसुलभ भावुकता ही नहीं थी, उनमें अद्भुत प्राज्ञता भी थी। उन्होंने जो कुछ कहा है, खूब सोच-समझकर कहा है।

---

1. डॉ. चमनलाल गौतम (स.), **भर्तृहरि शतकत्रय** (बरेली, 2004 ई.), पृ. 22।

7

जिमि सुतंत्र भयेँ बिगरहिँ नारीँ

यह प्रसंग किष्किंधाकांड का है। बाली के वध के पश्चात् सुग्रीव का राज्याभिषेक कर श्री राम और लक्ष्मण प्रवर्षण पर्वत पर वर्षा-वास कर रहे हैं। श्री राम लक्ष्मण को वर्षा ऋतु की शोभा का वर्णन सुना रहे हैं। सारा वर्णन अलंकृत है। प्रत्येक चौपाई में उत्प्रेक्षा या उदाहरण अलंकार है और प्रत्येक का उपमान तुलसीदास का अपना है जिसमें भक्ति, वैराग्य, राजनीति या विवेक सम्बंधी कोई गूढ़ उपदेश है। पर अलंकार-योजना का चमत्कार दिखाना कवि का उद्देश्य नहीं है। कवि ने कहा है कि श्री राम अपने अनुज से भक्ति, वैराग्य, राजनीति और विवेक की कथाएँ कहते हैं (12/7)। सचमुच समग्र वर्षा-वर्णन में ये ही चार विषय वर्णित हैं। विवेच्य चौपाई इस प्रकार है –

महा बृष्टि चलिँ फूटि किआरीँ ।
जिमि सुतंत्र भयेँ बिगरहिं नारीँ ।।

– किष्किंधा. 14/7

अर्थात् भारी वर्षा से क्यारियाँ टूट गयी हैं जैसे स्वतंत्र होने से नारियाँ बिगड़ जाती हैं।

यहाँ विवाद का विषय यह है कि स्वतंत्रता से बिगड़ने की बात केवल स्त्रियों के लिए ही क्यों कही जा रही है, यह तो पुरुष पर भी लागू हो सकता है। अपेक्षा से अधिक स्वतंत्रता मिलने पर मानव मात्र, चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसके बिगड़ने की सम्भावना रहती है। इस आधार पर तुलसीदास को स्त्री-विरोधी कहा जाता है।

इस स्थल पर यह विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि कवियों

के कितने प्रकार होते हैं और तुलसीदास उनमें कहाँ स्थान प्राप्त करते हैं।[1] कवियों के वर्गीकरण पर विचार करनेवाले प्राचीन भारतीय आचार्यों में राजशेखर सर्वप्रमुख हैं।[2] इनके द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण अति विस्तृत और व्यावहारिक है। इनके द्वारा स्वीकृत एक वर्ग है 'शास्त्रकवि' जिसके आधार पर इन्होंने कवियों के तीन भेद बतलाये – 1. शास्त्र का निर्माण करनेवाला, 2. शास्त्र में काव्य का निवेश करनेवाला और 3. काव्य में शास्त्रीय अर्थों का निवेश करनेवाला। राजशेखर के मानदंड पर तुलसीदास शास्त्रकवि के तीसरे वर्ग में आते हैं, अर्थात् वे काव्य में शास्त्र का अर्थ भरनेवाले कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में यथास्थान अनेक शास्त्रों के अर्थ भरे हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने कामशास्त्रीय अर्थ का सन्निवेश किया है। वात्स्यायन मुनि ने कहा है –

न स्त्री धर्ममधर्मं चापेक्षते कामयत एव।।[3]

अर्थात् स्त्री धर्म और अधर्म की कोई परवाह नहीं करती, वह केवल कामना करती है। इसकी पुष्टि करते हुए उन्होंने आगे लिखा है

पुरुषस्तु धर्मस्थितिमार्यसमयं चापेक्ष्य कामयमानोऽपि व्यावर्तते।।[4]

अर्थात् अधिकांश पुरुष ऐसे होते हैं जो चाहते हुए भी धर्म और समाज के डर से परस्त्री सहवास का प्रयत्न नहीं करते।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कामवासना (sex) के सम्बंध में स्त्रियों के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही कहा गया है कि स्वतंत्र होने से स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं। स्त्रियों में धर्माधर्म का विचार न होने से उनके द्वारा स्वतंत्रता का दुरुपयोग होना सहज सम्भव है और दुरुपयोग का तो दुष्परिणाम ही होता है, सुपरिणाम तो होता नहीं।

---

1. डॉ. सियाराम तिवारी, **तुलसीदास का आचार्यत्व** (नयी दिल्ली, 1985), पृ. 20-27।
2. राजशेखर, **काव्यमीमांसा**, अनु. केदारनाथ शर्मा सारस्वत (पटना, 1954), पंचम अध्याय।
3. वात्स्यायन, **कामसूत्रम्**, व्याख्याकार : देवदत्त शास्त्री (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2068 वि.) पृ. 514।
4. उपरिवत्।

द्वितीय उद्धरण से इस शंका का भी समाधान हो जाता है कि तुलसीदास ने स्वतंत्रता के दुरुपयोग की बात केवल स्त्रियों के संदर्भ में ही क्यों कही, यह बात पुरुषों पर क्यों लागू नहीं है। इसका उत्तर यह है कि तुलसीदास के ध्यान में तो यहाँ एक कामशास्त्रीय तथ्य है जिसकी ओर वात्स्यायन मुनि ने लोक का ध्यान आकृष्ट किया है। तुलसीदास ने उपमान के रूप में एक ऐसे लोकसत्य को प्रस्तुत किया जिससे बिम्ब भी पूर्ण हो जाता है और समाज को सुव्यवस्थित रखने की एक नीति भी लोक के सामने आती है।

वात्स्यायन मुनि के उपर्युक्त दोनों कथन **कामसूत्रम्** के शीलावस्थापनादिप्रकरणम् के अंतर्गत आते हैं। अन्तःपुरिकावृत्तप्रकरणम् के अंतर्गत उन्होंने फिर यह विषय उठाया है। वहाँ उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि स्वतंत्रता स्त्रियों के लिए विनाशकारिणी होती है –

> **अतिगोष्ठी निरंकुशत्वं भर्तुः स्वैरता पुरुषैः सहानियन्त्रणता प्रवासेऽवस्थानं विदेशे निवासः स्ववृत्त्युपघातः स्वैरिणीसंसर्गः पत्युरीर्ष्यालुता चेति स्त्रीणां विनाशकारणानि।।**[1]

अर्थात् बहुत ज्यादा गप-शप करना, अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचारिता, पुरुषों के साथ निःसंकोच, स्वच्छंद भाव से रहना, बातें करना, पति के बाहर चले जाने पर अकेली रहना, घर से बाहर विदेश में रहना, जीविकाहीन होना, कुलटाओं का साथ मिल जाना, पति से ईर्ष्या करना – आदि कारणों से स्त्रियाँ व्यभिचारिणी बन जाती हैं। वात्स्यायन मुनि का यह कथन इतना स्पष्ट है कि इसके आलोक में तुलसीदास की प्रस्तुत उक्ति देखने पर उसकी सत्यता में कोई संदेह नहीं रह जाता है। यह तो हुआ कामशास्त्र (यौन विज्ञान) का प्रमाण। अब देखा जाय कि इस सम्बंध में धर्मशास्त्र क्या कहता है।

---

1. वात्स्यायन, कामसूत्रम्, व्याख्याकार : देवदत्त शास्त्री (चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2068 वि.), पृ. 597।

धर्मशास्त्र का भी ठीक यही मत है। जो बात वात्स्यायन मुनि ने कही है, ठीक वही बात मनु भी कहते हैं –

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्यमेव भुञ्जते।[1]

अर्थात् ये स्त्रियाँ न तो पुरुष के सुंदर रूप की परीक्षा करती हैं और न ही उसकी आयु का विचार करती हैं, वह तो सदा केवल पुरुष की कामना करती है चाहे वह सुरूप हो या कुरूप। यही कारण है कि मनु ने भी वात्स्यायन मुनि के समान स्त्रियों की स्वतंत्रता का निषेध किया। उनका कथन इस प्रकार है –

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्रीस्वतन्त्रताम्।।

अर्थात् स्त्री को बाल्यावस्था में पिता के, युवती होने पर पाणिग्रहण करनेवाले पति के और पति के मर जाने पर पुत्रों के अधीन रहना चाहिए। उसे कभी स्वतंत्र नहीं रहना चाहिए।[2] **मनुस्मृति** के इस कथन को मनुवादी, ब्राह्मणवादी, रूढ़िवादी आदि कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। **मनुस्मृति** धर्मशास्त्र का एक महान् ग्रंथ है, इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिस प्रकार कामशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्र हैं उसी प्रकार धर्मशास्त्र भी एक शास्त्र है। और, प्रस्तुत प्रसंग में तो वात्स्यायन मुनि की बातों को दुहराकर मनु यह भी सिद्ध कर रहे हैं कि उनकी **मनुस्मृति** में वैज्ञानिकता भी है।

अंत में, यह विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रस्तुत एवं अन्य प्रसंगों में लोकमत को भी शास्त्र के समान एक निकष माना जाय

---

1. हरगोविंद शास्त्री (टी.), मनुस्मृति 9/14 (चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, तृ. सं. 2011 ई.), पृ. 481।
2. हरगोविंद शास्त्री (टी.), मनुस्मृति 5/148 (चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, तृ. सं. 2011 ई.), पृ. 287।

या नहीं। इस सम्बंध में ध्यातव्य है कि शास्त्र कवि होने के बावजूद तुलसीदास लोकमत को प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। अयोध्याकांड के एक प्रकरण में उन्होंने इसका साक्ष्य प्रस्तुत किया है। भरत जी वसिष्ठ मुनि समेत अयोध्यावासियों को लेकर श्री राम को वापस ले आने के लिए वन में गये हुए हैं। वहीं वसिष्ठ जी श्री राम को कह रहे हैं –

भरतबिनय सादर सुनिअँ करिअँ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि।

–दोहा 257

अर्थात् पहले भरत की विनती आदरपूर्वक सुन लीजिए। फिर उसपर विचार कीजिए। तब साधुमत, **लोकमत**, राजनीति और वेदों का निचोड़ निकालकर उसीके अनुसार कीजिए। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास लोकमत को एक प्रमाण के रूप में पर्याप्त महत्त्व देते थे। इस स्थल पर लोक की महत्ता की एक झलक देख लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

लोक का महत्त्व शास्त्र से भी अधिक माना गया है। एक उक्ति लोक में बहुत ही प्रचलित है – "शास्त्रविहितं लोकविरुद्धं न करणीयं, न करणीयम्।" अर्थात् शास्त्र आज्ञा देता हो किंतु वह लोक के विरुद्ध हो तो वह नहीं करने योग्य है, नहीं करने योग्य है। एक अन्य सूक्ति में तो बहुत बल देकर यह बात कही गयी है – "शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः।" अर्थात् शास्त्र को जानते हुए भी जो लोक-व्यवहार को नहीं जानता वह मूर्ख के समान होता है।[1]

तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत प्रसंग में तुलसीदास के कथन पर विचार करते हुए यह देखना आवश्यक है कि इस विषय में लोकमत क्या कहता है।

प्रश्न उठता है, लोकमत किसको माना जाय। इसका उत्तर यह है कि सुभाषित और सूक्ति के रूप में प्रचलित उक्तियाँ लोकमत ही कही जाने योग्य हैं। यों तो नीतिशास्त्र (Ethics) एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में मान्य

---

1. मंगलदेव शास्त्री (स.), **सुभाषित सप्तशती** (नयी दिल्ली, 2009), पृ. 84।

है किंतु **चाणक्यनीति, विदुरनीति** जैसे ग्रंथ लोकमत के ही परिचायक मानने योग्य हैं। **हितोपदेश, पंचतंत्र** आदि भी लोकमत को ही प्रस्तुत करते हैं। किसी शास्त्रकार की कोई उक्ति इतनी लोकव्यापी हो जाती है कि उसे भी लोकमत ही कहा जायगा। मनु प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार हैं और इस रूप में ऊपर उनके मत का विवेचन किया भी गया है जो उनकी **मनुस्मृति** में पाँचवें अध्याय में आया है। नौवें अध्याय में उन्होंने पुनः इस विषय पर अपना विचार व्यक्त किया है जो इस प्रकार है –

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।।

अर्थात् स्त्री की रक्षा बचपन में पिता करता है, युवावस्था में पति करता है और वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं।[1] मनु का यह कथन सुभाषित के रूप में इतना प्रसिद्ध और बहूद्धृत है कि इसे लोकमत के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। इस रूप में भी मनु स्त्रियों की स्वतंत्रता का निषेध ही करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि यहाँ तुलसीदास ने कामशास्त्र, धर्मशास्त्र और लोकमत को दुहराया है। इसके लिए उनको दोष नहीं दिया जा सकता है। जिस प्रकार अन्यत्र वे शास्त्र और लोक अंदर हैं, उसी प्रकार यहाँ भी हैं।

---

1. हरगोविंद शास्त्री (टी.), **मनुस्मृति** 9/3 (चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, तृ.सं. 2011 ई.), पृ. 479।

8

ढोल गवार सुद्र पसु नारी

यह अर्द्धाली सुंदरकांड के अंत में आयी है। यह श्री राम के प्रति समुद्र का कथन है। प्रसंग यह है कि श्री राम ने मार्ग देने के लिए तीन दिनों तक समुद्र से प्रार्थना की किंतु उसके कानों पर जूँ न रेंगी। इसपर श्री राम ने लक्ष्मण से कहा कि अग्निबाण लाओ, समुद्र को सुखा ही देता हूँ। श्री राम के क्रोध को देखकर समुद्र संत्रस्त हो उठा। ब्राह्मण-वेश में प्रकट होकर उसने श्री राम से प्रार्थना की। विनय प्रदर्शित करते हुए वह श्री राम से निवेदन करता है –

ढोल गवार सुद्र पसु नारी।
सकल ताड़ना के अधिकारी।। –(सुंदर. 58/6)

विभिन्न टीकाकारों ने इस चौपाई का जो अर्थ किया है, उसपर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

गीताप्रेस संस्करण में इस चौपाई का अर्थ इस प्रकार है – "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री – ये सब दंड के अधिकारी हैं।"[1] स्पष्ट है कि यहाँ 'ताड़ना' शब्द का अर्थ 'दंड' लिया गया है और उसीको ढोल आदि पाँचों पर लागू कर दिया गया है। यह बड़ा स्थूल और सर्वथा अविचारित अर्थ है। पाँचों को दंड का अधिकारी बता देना सामान्य बुद्धि (Common Sense) से ही असंगत सिद्ध होता है। यह अर्थ बुद्धिसंगत और तर्क की कसौटी पर खरा उतरने योग्य नहीं है।

मानस-पीयूष के लेखक ने इस पर विस्तार से विचार किया है, पर उनका भी ध्यान 'ताड़ना' शब्द में जो श्लेष अलंकार है, उसपर नहीं गया

---

1. **रामचरितमानस** (मझला साइज, बीसवाँ संस्करण, 2034 वि.), पृ. 736।

है और ढोल आदि पाँचों के सम्बंध में 'ताड़ना' का एक ही अर्थ लिया है।[1]

ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपनी टीका में लिखा है – "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, स्त्री ये सब ताड़ना करने के योग्य हैं।"[2] इस पर टिप्पणी करना ही निरर्थक है।

विजयानंद त्रिपाठी ने अर्थ तो यही लिया है कि "ढोल गँवार शूद्र पशु और स्त्री ये सब दंड के अधिकारी हैं" किंतु व्याख्या करके अपने अर्थ का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जो इस प्रकार है – "चार दंड के अधिकारी हैं। इसमें ढोल को पहिले कहा। यही चौपाई लगने की किल्ली है। जिस भाँति हिसाब से : ढीला पड़ जाने से ठीक काम न देने से ढोल को ठोंक ठाँककर ठीक कर लेते हैं इसी भाँति गँवार शूद्र पशु और नारी का भी ठोंक ठाँक उनके सुधार की दृष्टि से होना चाहिए। नहीं तो ये ढोल की भाँति ढीला पड़कर बेकार हो जाते हैं।"[3] यह व्याख्या तो हास्यास्पद ही कहे जाने योग्य है।

नरोत्तमदास स्वामी और पुरुषोत्तमदास स्वामी ने **रामचरित-मानस का सुन्दर-काण्ड** नाम से एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी थी जो सन् 1933 ई. में इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग से छपी थी। उन्होंने 'ताड़ना के अधिकारी' का अर्थ लिखा है – "दण्ड देने के ही योग्य हैं" (पृ. 164)।

तुलसी-शब्दसागर में 'ताड़ना' के ये अर्थ बताये गये हैं – "मार, दंड, घुड़की" और उदाहरण के रूप में प्रस्तुत चौपाई की इस अर्द्धाली को उद्धृत किया गया है – "सकल ताड़ना के अधिकारी।"[4]

रामचरितमानस की नवीनतम टीका लोकभारती टीका में विवेच्य अर्द्धाली का अर्थ इस प्रकार दिया गया है – "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु तथा स्त्री ये सभी दंड (ताड़न) के अधिकारी होते हैं।[5]

---

1. **मानस-पीयूष**, खंड 6 (गीताप्रेस, तेरहवाँ पुनर्मुद्रण, 2067 वि.) पृ. 433-437।
2. **रामायण** (श्री वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 2014), पृ. 934।
3. विजयानंद त्रिपाठी, **रामचरितमानस**, तृतीय भाग (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2004), पृ. 278।
4. सम्पादक, डॉ. भोलानाथ तिवारी (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 2009 ई.)।
5. टीकाकार, डॉ. योगेंद्र प्रताप सिंह (लोकभारती, इलाहावाद, द्वितीय संस्करण, 2013 ई.), पृ. 719।

उपर्युक्त सभी विद्वानों ने 'ताड़ना' का एक ही अर्थ ग्रहण किया है 'दंड'। 'दंड' का अर्थ तो 'सजा' है, पर यह अर्थ ढोल और स्त्री के सम्बंध में कैसे लागू हो सकता है? ढोल निर्जीव पदार्थ है और स्त्री सजीव है। दंड का तो उद्देश्य होता है अपराधी को उसके द्वारा किये गये अपराध के कारण हानि पहुँचाना जिससे वह भविष्य में ऐसा कार्य न करे और समाज के दूसरे लोग भी उसे दंड पाते देखकर ऐसे कार्य से परहेज करें। अब सोचने की बात है कि यदि 'ताड़ना' का अर्थ 'दंड देना' है तो ढोल के सम्बंध में इसकी क्या संगति होगी? आश्चर्य है कि लोकभारती टीका के विद्वान् लेखक ने भी इसी असंगत अर्थ को स्वीकार कर लिया है।

अब देखा जाय कि शब्दकोश 'ताड़ना' शब्द का क्या अर्थ देता है। **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर**[1] में 'ताड़ना' शब्द पर निम्नांकित टिप्पणी दी गयी है – "संज्ञा पुं. [सं.] 1. मार/प्रहार/आघात। 2. डाँट डपट/शासन/दंड/धमकी। 3. उत्पीड़न/कष्ट।"

"क्रि. स. 1. मारना/पीटना/ 2. डाँटना डपटना।"

"क्रि. स. [सं. तर्कण] 1. किसी ऐसी बात को जान लेना जो छिपायी गयी है। लक्षण से समझ लेना। भाँपना। लख लेना। 2. मारपीट कर भगाना। हटा देना।"

बृहत् हिंदी कोश[2] में इस शब्द के संज्ञा-रूप और क्रिया-रूप को पृथक्-पृथक् तो रखा ही गया है, दोनों की वर्तनी भी अलग-अलग रखी गयी है

"ताडना – स्त्री [सं.] मार; आघात; मारने-पीटने की क्रिया; डाँट-डपट।"

"ताड़ना – सं.क्रि. भाँपना, जान लेना, समझ लेना; मारना; सजा देना; कष्ट देना; दुर्वचन कहना।"

'ताड़ना' शब्द संस्कृत से व्युत्पन्न माना जाता है, अतः संस्कृत के कोश में भी इसका अर्थ देखना आवश्यक प्रतीत होता है। वामन शिवराम आप्टे[3] ने अपने प्रसिद्ध कोश में इस शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है –

1. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।
2. ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।
3. **संस्कृत-हिन्दी कोश**, मोतीलाल बनारसीदास, 1966।

"ताडः 1. प्रहार, ठोकर, घूँसा या थप्पड़ 2. कोलाहल 3. पूला, गट्ठर 4. पहाड़।"

यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं। प्रथम तो यह कि सभी टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ 'दंड' ही ग्रहण किया है जबकि संस्कृत में इसका यह अर्थ है भी नहीं। द्वितीय यह कि हिंदी के कोशों में भी 'दंड' – इस शब्द का अनेक अर्थों में से एक अर्थ है, एकमात्र अर्थ नहीं।

वस्तुतः यहाँ 'ताड़ना' शब्द में श्लेष अलंकार है। श्लेष अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक शब्द से अनेक अर्थों का कथन होता है। ऐसा इसलिए सम्भव होता है कि कुछ शब्द अनेकार्थवाची होते ही हैं। ऐसे ही शब्दों के प्रयोग से श्लेष अलंकार की सृष्टि होती है। रहीम का निम्नांकित दोहा इसका प्रसिद्ध उदाहरण है –

'रहिमन' पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मोती मानुस, चून।।

यहाँ 'पानी' शब्द में श्लेष है क्योंकि इससे तीन अर्थ निकलते हैं – चमक, प्रतिष्ठा और जल जो क्रमशः 'मोती', 'मानुस' और 'चून' से सम्बंधित हैं। मोती में यदि पानी अर्थात् चमक नहीं है तो वह किसी काम का नहीं, मनुष्य में यदि पानी अर्थात् प्रतिष्ठा नहीं है तो उसका जीवन व्यर्थ है, चूने में जबतक पानी अर्थात् जल का अंश है तभी तक वह काम का रहता है। जिस तरह अनेकार्थवाची 'पानी' शब्द के प्रयोग से मोती, मनुष्य और चूने से सम्बंधित तीन अर्थ निकाले गये हैं, उसी प्रकार अनेकार्थवाची 'ताड़ना' शब्द के द्वारा ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और नारी के संदर्भ में भिन्न-भिन्न अर्थ अभिप्रेत हैं। इन पर एक-एक कर विचार किया जाय।

'ताड़ना' शब्द का प्रहला अर्थ है 'प्रहार' जिसका समबंध ढोल, पशु और नारी से है। ढोल पर हाथ या लकड़ी से प्रहार किये विना उसमें से ध्वनि नहीं निकल सकती। इसीलिए कहा गया है कि ढोल प्रहार का अधिकारी है। यह सामान्य व्यवहार की बात है जिसको समझाने की आवश्यकता नहीं।

पशु भी प्रहार का अधिकारी होता है। चरवाहे पशुओं को चराते

समय डंडा रखते हैं कि नहीं? जब कोई पशु भागने लगता है तो उसे डंडे से पीटकर घेरते हैं या नहीं? गाड़ीवान गाड़ी चलाते समय डंडे का प्रयोग करता है या नहीं? गाड़ी खींचनेवाला जानवर यदि मंद गति से चलने लगता है तो गाड़ीवान उसे डंडा मारकर दौड़ाता है या नहीं? हलवाहे भी हल जोतते समय बैलों को तेज चलाने के लिए डंडे से प्रहार करते हैं। इस प्रकार पशु के संदर्भ में प्रहार शब्द अक्षरशः सार्थक है।

अब एक शब्द बच जाता है 'नारी' जिसके संदर्भ में 'प्रहार' शब्द की सार्थकता स्थूल बुद्धि से समझ में आनेवाली बात नहीं है। पिछले एक प्रकरण में कहा गया है कि तुलसीदास कहीं भी शास्त्र या लोक से बाहर नहीं हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भी यही बात है। वे यहाँ एक कामशास्त्रीय (Sexological) तथ्य की ओर संकेत कर रहे हैं।

वात्स्यायन मुनि ने **कामसूत्र** के साम्प्रयोगिक अधिकरण के अंतर्गत 'प्रहणन और सीत्कृत प्रकरण' शीर्षक से सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में पुरुषों के द्वारा सम्भोग-काल में किये जानेवाले प्रहणन और स्त्रियों के द्वारा किये जानेवाले तज्जनित सीत्कार का विस्तृत वर्णन किया है। 'प्रहणन' शब्द का अर्थ 'प्रहार' है। प्रहणन या प्रहार को मैथुन का एक अनिवार्य अंग मानते हुए उन्होंने प्रहार के स्थान भी बतलाये हैं – "तस्मात्प्रहणनस्थानमङ्गम्। स्कन्धौ शिरः स्तनान्तरं पृष्ठं जघनं पार्श्व इति स्थानानि।।" अर्थात् दोनों कंधे, दोनों स्तनों के बीच का स्थान, पीठ, जांघें, सिर तथा दोनों बगलें प्रहार के स्थान हैं।[1] इस विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं "तच्चतुर्विधम् – अपहस्तकं प्रसृतकं मुष्टिः समतलकमिति।।" अर्थात् प्रहार चार प्रकार के होते हैं– (1) अपहस्तक – उलटी हथेली से थाप मारना, (2) प्रसृतक – हाथ फैलाकर मारना, (3) मुष्टि – मुक्का मारना और (4) समतल – हथेली से मारना।[2] सम्भोग-काल में प्रहार के महत्त्व को देखते हुए वात्स्यायन प्रहार की अनेक पद्धतियों का उल्लेख करते हैं। वे कहते

1. **कामसूत्रम्**, व्याख्याकार : देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, (वाराणसी, 2068 वि.), पृ. 327।
2. उपरिवत्, पृ. 327-28।

हैं – "उत्सङ्गोपविष्टायाः पृष्ठे मुष्टिना प्रहारः।। अर्थात् नायिका यदि नायक की गोदी में बैठी हुई हो तो नायक उसकी पीठ पर मुक्कों से प्रहार करे।"[1] नायिका के आसन (Posture) को देखते हुए वे आगे कहते हैं– "युक्तयन्त्रायाः स्तनान्तरेऽपहस्तकेन प्रहरेत्।" अर्थात् चित लेटकर सम्भोग कराती हुई स्त्री के दोनों स्तनों के बीचों-बीच उलटी हथेली से प्रहार करना चाहिए।[2] यौन क्रिया में प्रहार के महत्त्व को हृदयंगम कराने के लिए मुनि अंत में कहते हैं – "मन्दोपक्रमं वर्धमानरागमा परिसमाप्तेः। अर्थात् पहले धीरे-धीरे मुक्का मारना शुरू करे और फिर ज्यों-ज्यों राग बढ़ता जाय तदनुसार प्रहार में भी तेजी लानी चाहिए।"[3]

वात्स्यायन मुनि का यह प्रहार-विवेचन कितना सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है, इसका प्रमाण यही है कि प्रहार के उत्तर में स्त्रियों के द्वारा करने योग्य या की जानेवाली काम-चेष्टाओं का भी विवेचन उन्होंने किया है। स्त्रियों के लिए करणीय चेष्टा का निर्देश वे इस प्रकार करते हैं – "तत्र हिंकारादीनामनियमेनाभ्यासेन विकल्पेन च तत्कालमेव प्रयोगः।" अर्थात् हिं...हीं, हँ, फुसकारना, हाँफना आदि कष्टसूचक ध्वनियाँ करने का न तो कोई नियम होता है और न क्रम। मुक्का लगना शुरू होने से लेकर अंत तक कष्टसूचक ध्वनि करते रहना जरूरी है।"[4] जिस तरह पुरुषों के द्वारा किये जानेवाले प्रहार से स्त्रियों को आनंद मिलता है, उसी प्रकार प्रहार की अनुक्रिया (Response) में स्त्रियों के द्वारा की जानेवाली ध्वनि पुरुषों में राग बढ़ाती है। यही कारण है कि पुरुषों के प्रहार को सार्थक करने के लिए स्त्रियों को ऐसा निर्देश दिया गया है। स्त्रियों को ध्यान में रखकर वे आगे लिखते हैं – "शिरसि किंचिदाकुञ्चिताङ्गुलिना करेण विवदन्त्याः फूत्कृत्य प्रहणनं तत्प्रसृतकम्।" अर्थात् उलटी हथेली के प्रहार से स्त्री को आनंद न मिलता हो और वह कोई और प्रहार चाहती हो तो पुरुष को चाहिए कि

1. कामसूत्रम्, व्याख्याकार : देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान (वाराणसी, 2068 वि.), पृ. 329।
2. उपरिवत्, पृ. 330।
3. उपरिवत्।
4. उपरिवत्।

वह राग के अनुसार धीरे या जोर से साँप के फण की भाँति अँगुलियों को बनाकर स्त्री के सिर पर मारे। इस प्रहार को प्रसृतक (खोटका) कहते हैं।"[1] स्त्रियों को यह भी निर्देश दिया गया है कि प्रहार की अनुक्रिया (Response) में वह किस प्रकार की ध्वनि करे – "तत्रान्तर्मुखेन कूजितं फूत्कृतं च।" अर्थात् जिस समय पुरुष स्त्री को मुक्का मारे उस समय स्त्री हाय राम, हाय हाय जैसे स्पष्ट कष्टसूचक शब्दों को न कह कर कूँ-कूँ, सूँ-सूँ, फू-फू आदि संवृत, विवृत, जिह्वामूलीय शब्दों की ध्वनि करे।"[2] वात्स्यायन प्रहार की अनुक्रिया में की जानेवाली ध्वनि पर विचार करते हुए पुनः लिखते हैं – "सर्वत्र चुम्बनादिष्वपक्रान्तायाः ससीत्कृतं तेनैव प्रत्युत्तरम्। अर्थात् चूमने पर, नाखून, दाँत गड़ाने पर स्त्री जैसी आवाज करे ठीक उसी के जवाब में उसी तरह की आवाज पुरुष को भी करनी चाहिए।"[3] इस प्रसंग के निष्कर्ष-स्वरूप वात्स्यायन एक श्लोक देते हैं जबकि उनकी अन्य उक्तियाँ सूत्रों में हैं। वह श्लोक इस प्रकार है –

पारुष्यं रभसत्वं च पौरुषं तेज उच्यते।
अशक्तिरार्तिर्व्यावृत्तिरबलत्वं च योषितः।।

अर्थात् कठोरता, धृष्टता, साहस पुरुष के स्वाभाविक गुण हैं तथा असमर्थता, पीड़ित होना, निवारण करना और निर्बलता, कोमलता स्त्रियों के स्वाभाविक गुण होते हैं। इसीलिए पुरुष स्त्री पर प्रहार करता है और स्त्री सी-सी करती रहती है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि नारियों के संदर्भ में 'ताड़ना' शब्द का 'प्रहार' अर्थ लेना सर्वथा सुसंगत है। जैसा पिछले एक लेख में कहा जा चुका है, तुलसीदास शास्त्रकवि थे। उन्होंने अपने काव्य में अनेक शास्त्रों के मर्म भर दिये हैं। विवेच्य चौपाई में

---

1. कामसूत्रम्, व्याख्याकार : देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान (वाराणसी, 2068 वि.), पृ. 330-31।
2. उपरिवत्, पृ. 331।
3. उपरिवत्।
4. उपरिवत्, पृ. 332-33।

उन्होंने जिस प्रकार एक कामशास्त्रीय तथ्य को निरूपित किया है, उसका सौंदर्य अवर्णनीय है।

'ताड़ना' अर्थात् 'प्रहार' शब्द की संगति ढोल, पशु और नारी के सम्बंध में दिखायी जा चुकी। अब गँवार और शूद्र के सम्बंध में 'ताड़ना' शब्द के अर्थ पर विचार किया जाय। ऊपर कहा जा चुका है कि 'ताड़ना' शब्द में श्लेष अलंकार है। इसका दूसरा अर्थ है 'डाँट-डपट'। इसका यह अर्थ लेना इसलिए भी संगत है कि प्रस्तुत चौपाई के ठीक पहले के दोहे में इस प्रकार कहा गया है –

काटेंहि पइ कदली फरै कोटि जतन कोउ सीच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेंहि पइ नव नीच।।

– सुंदर., दोहा 58

अर्थात् केले के पेड़ को काटने से ही उसमें फल लगता है। विना काटे उसे कितना भी सींचा जाय, उसमें फल नहीं लग सकता है। उसी प्रकार नीच व्यक्ति विनय की भाषा नहीं समझता है, डाँटने पर ही वह झुकता है। आगे की विवादास्पद चौपाई 'ढोल गवार...' के अर्थ-निर्धारण में यह दोहा बहुत सहायक है। इससे 'ताड़ना' का अर्थ 'डाँटना' और 'शूद्र' का अर्थ 'नीच' सम्पुष्ट हो जाता है। इसका सम्बंध गँवार और शूद्र से है। पहले गँवार के सम्बंध में विचार किया जाय।

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर में 'गँवार' शब्द के ये अर्थ दिये गये हैं – (1) गाँव का रहनेवाला, ग्रामीण, देहाती। (2) असभ्य। (3) बेवकूफ, मूर्ख। (4) अनाड़ी। **बृहत् हिंदी कोश** ने इन अर्थों को स्वीकार करते हुए एक शब्द 'उजड्ड' जोड़ा है जिसका अर्थ भी 'मूर्ख' ही होता है। तुलसीदास को भी 'गँवार' से 'मूर्ख' ही अभिप्रेत है। मूर्ख व्यक्ति हठधर्मी होता है। वह अपनी गलती नहीं स्वीकार करता है। नम्रता से कही हुई अच्छी बात को वह ग्रहण नहीं करता है। इसीलिए तुलसीदास ने गँवार को ताड़ना (डाँट-डपट) का अधिकारी बतलाया है। यहाँ विवाद की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

अब बच जाता है एक शब्द 'शूद्र' जिसपर विचार करने की आवश्यकता

है। शूद्र के सम्बंध में 'ताड़ना' शब्द इसलिए खटकता है कि जन्मना आधारित जाति-व्यवस्था ध्यान में आ जाती है। यह आज के युग में सचमुच मान्य नहीं हो सकता। इसलिए देखा जाय कि हिंदी के शब्दकोश 'शूद्र' शब्द के कितने अर्थ देते हैं। **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर** ने इसके तीन अर्थ स्वीकार किये हैं – (1) आर्यों के चार वर्णों में से चौथा और अंतिम वर्ण (2) शूद्र जाति का पुरुष और (3) खराब, निकृष्ट, अछूत। **बृहत् हिंदी कोश** ने भी इस शब्द के ये तीन अर्थ दिये हैं – (1) वैदिक आर्यों द्वारा निर्धारित वर्ण-व्यवस्था में चतुर्थ वर्ण, (2) अछूत, हरिजन, और (3) निम्न कोटि का व्यक्ति। उपर्युक्त दोनों कोश-ग्रंथों में 'शूद्र' शब्द का जो अंतिम अर्थ दिया गया है वही प्रस्तुत चौपाई में ग्रहण करने योग्य है। तात्पर्य यह है कि यहाँ तुलसीदास को 'शूद्र' शब्द से निकृष्ट अथवा निम्न कोटि का व्यक्ति ही अभिप्रेत है, तथाकथित शूद्र माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण शूद्र कहलानेवाला व्यक्ति नहीं। इस तरह रूढ़िवादी मान्यता के अनुसार निर्धारित वर्ण-व्यवस्था में आज के किसी भी वर्ण में शूद्र पाये जा सकते हैं। तुलसीदास का अभिप्राय इसी प्रकार के शूद्र व्यक्ति से है। तुलसीदास जाति अथवा कुल से व्यक्ति को बड़ा-छोटा माननेवाले संत नहीं थे, बड़प्पन का आधार वे भक्ति को मानते थे। शबरी विनयवश जब अपनी हीनता बतलाती है तो श्री राम कहते हैं –

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई।।
भगतिहीन नर सोहै कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।।

– अरण्य. 34/5-6

अर्थात् जाति, पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता – इन सबके होने पर भी भक्ति से रहित मनुष्य वैसा ही दीखता है जैसा जलविहीन बादल दिखायी पड़ता है। श्री राम के कथन का निचोड़ यही है कि जन्मना अर्जित पारिवारिक और सामाजिक सम्पत्ति एवं

प्रतिष्ठा से व्यक्ति शोभित नहीं होता है, शोभा तो वह भक्ति से ही पाता है। निष्कर्षतः, विवेच्य चौपाई में 'शूद्र' शब्द का अर्थ 'निकृष्ट' अथवा 'नीच' है जो उसके चरित्र से निर्धारित होता है, जन्म से नहीं। अतः जिस प्रकार 'गँवार' के संदर्भ में 'ताड़ना' का अर्थ 'डाँट-डपट' लेना सही है, उसी प्रकार 'शूद्र' के संदर्भ में भी यह सटीक है। नीच और निकृष्ट व्यक्ति विनय की भाषा नहीं समझता, वह डाँट-फटकार से ही ठीक रहता है। इस स्थल पर गँवार (मूर्ख) और शूद्र (निकृष्ट, नीच) के अंतर को स्पष्ट कर लेना अप्रासंगिक नहीं कहा जाना चाहिए। गँवार वह है जिसमें बुद्धि की कमी है और शूद्र वह है जो चरित्र से गर्हित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों ही ताड़ना के अधिकारी होते हैं।

अर्थ-निर्धारण के अतिरिक्त प्रस्तुत चौपाई से सम्बंधित दो और तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम तो यह है कि प्रस्तुत चौपाई को **गर्गसंहिता** के निम्नांकित श्लोक का आहरण माना जाता है –

दुर्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताडिता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारभाजनम्।।[1]

इस सम्बंध में निवेदन है कि प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने पं. रामतेज पांडेय द्वारा सम्पादित और चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली द्वारा प्रकाशित **गर्गसंहिता** में उपर्युक्त श्लोक को खोजने का प्रयास किया, पर वह असफल रहा। इसलिए विवेच्य चौपाई पर इस दृष्टि से यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

द्वितीय तथ्य यह है कि **रामचरितमानस** के किसी प्रसंग पर विचार करते हुए यह ध्यान में रखा ही नहीं जाता है कि वह एक प्रबंधकाव्य है। प्रबंधकाव्य में विभिन्न प्रकार के पात्र होते हैं जो प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के कथन करते हैं। ऐसी स्थिति में सभी प्रकार के सभी पात्रों के

---

1 (क). नरोत्तमदास स्वामी तथा पुरुषोत्तमदास स्वामी (स.), रामचरित-मानस का सुन्दर-काण्ड (इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग 1933 ई.), पृ. 115।
(ख). नागरी पत्रिका, वर्ष 48, अंक 5 (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी), पृ. 117।

सारे कथनों को कवि का विचार नहीं माना जा सकता। प्रबंधकाव्य में कवि का प्रवक्ता कुछ ही अथवा एक ही पात्र होता है जिसके माध्यम से वह अपना विचार प्रकट करता है। **रामचरितमानस** में तुलसीदास के प्रवक्ता कौन-से पात्र हो सकते हैं, यह सामान्य बुद्धि से ही समझ में आ जाता है। विवेच्य चौपाई में समुद्र का कथन है जो ब्राह्मण-वेश में श्री राम के समक्ष नतमस्तक है। अतः समुद्र के कथन को तुलसीदास का विचार मानकर उनको स्त्री-विरोधी और शूद्र-विरोधी मानना प्रबंधकाव्य के स्वरूप से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

चलतें-चलते यह बतला देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रस्तुत चौपाई के अर्थ-निर्धारण के प्रयास में पाठ को ही विकृत कर दिया गया है। ऐसे ही एक महानुभाव ने लिखा है कि 'नारी' मूलतः 'नार' है जिसको तुक मिलाने के लिए 'नारी' कर दिया गया है। 'नार' शब्द का अर्थ वे 'समूह' लेते हैं और कहते हैं कि राजापुर-क्षेत्र में 'नार' शब्द आज भी 'समूह' के अर्थ में प्रचलित है। इस आधार पर 'पशु' और 'नारी' को एक सामासिक शब्द मानकर इसका अर्थ लेते हैं – 'पशुओं का समूह'। इसी प्रकार 'शूद्र' के सम्बंध में उनका कथन है कि यह वास्तव में 'सूद' है जिसका अर्थ है 'कष्ट देनेवाला'। वे लिखते हैं –

"राजापुर तथा राजापुर क्षेत्र में आज भी 'नारी' अथवा 'नार' शब्द का प्रयोग समूह के अर्थ में होता है। पशुओं के समूह को नार कहा जाता है। पशुओं के समूह को ग्राम्य भाषा में 'गोरुओं की नार' कहा जाता है। यहाँ नारी का प्रयोग तुक मिलाने की दृष्टि से अंत्यानुप्रास के रूप में हुआ है, जिसका अर्थ पशुओं का समूह ही है। इसी प्रकार 'सूद्र' शब्द का भी दुरुपयोग हुआ है। यह सूद्र शब्द वास्तव में 'सूद' शब्द है, जिसका प्रयोग पीड़क अथवा कष्ट देने व पीड़ा देनेवाले के लिए होता है। राजापुर में आज भी 'सूद' शब्द का प्रयोग पीड़क के अर्थ में होता है।"[1]

ऐसा कथन करके लेखक ने पाठालोचन (Textual Criticism) से

---

1. **तुलसी-विमर्श**, लेखक : डॉ. अयोध्या प्रसाद पांडेय, सम्पादक : डॉ. उमाशंकर शुक्ल 'उमेश', उपसम्पादक : अनूप कुमार शुक्ल 'अनूप', पृ. 66-67।

अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट की है। सही पाठ का निर्धारण पाठालोचन के सिद्धांत के अनुसार होता है और उसका आधार होता है सम्पादित ग्रंथ का हस्तलेख, न कि ग्रंथकार की जन्मभूमि पर प्रचलित कुछ खास स्थानीय शब्द। पाठालोचन की दृष्टि से **रामचरितमानस** के चार संस्करण प्रामाणिक माने जाते हैं – (1) नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी का संस्करण, (2) डॉ. माताप्रसाद गुप्त का संस्करण, (3) गीताप्रेस, गोरखपुर का संस्करण और (4) काशिराज संस्करण। इनमें भी अंतिम का महत्त्व सबसे अधिक है। इन चारों में से किसी में भी 'नारी' के स्थान पर 'नार' और 'सुद्र' के स्थान पर 'सूद' पाठ नहीं है। अतः इसे पाठ में मनमाना संशोधन ही कहा जायगा। पाठ के ही समान इनके द्वारा प्रस्तावित अर्थ भी मनमाना है। न तो अवधी[1] का कोश 'नार' शब्द का अर्थ 'समूह' और 'सूद' का अर्थ 'पीड़क' स्वीकार करता है और न हिंदी[2] के शब्दकोश ही इन दोनों शब्दों के ये अर्थ मानते हैं। यह पाठ और अर्थ दोनों सर्वथा अमान्य है।

प्रस्तुत चौपाई में जो 'अधिकारी' शब्द है, उसका अर्थ लेने में भी खींचतान हुई है। एक उदाहरण इस प्रकार है –

"'अधिकारी' शब्द से अपने हितैषी एवं निजत्व रखनेवाले व्यक्ति ही अभिप्रेत हो सकते हैं। अन्य कोई मनुष्य जो किसी प्रकार का सम्बंध ही न रखता हो, उसे ताड़ना देने का अधिकार कैसे हो सकता है? क्योंकि अधिकार अपनी ही वस्तु पर होता है, अन्य का अन्य की वस्तु पर अधिकार सम्भव नहीं।"[3] क्लिष्ट कल्पना से ही यह अर्थ निकाला गया है। किसी शब्द के अर्थ का प्रमाण शब्दकोश होता है, और कुछ नहीं। देखा जाय कि हिंदी के शब्दकोश 'अधिकारी' शब्द का क्या अर्थ स्वीकार करते हैं। **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर** में इस शब्द के छह अर्थ माने गये

---

1. रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', **अवधी-कोष** (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहावाद, द्वि.सं. 2011 ई.)।

2(क) **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर** (ना.प्र.स., काशी, 2054 वि.)।

(ख) **बृहत् हिंदी कोश** (ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृ.सं. 2020 वि.)।

3. जयरामदास 'दीन', **मानस-शंका-समाधान** (गीताप्रेस, गोरखपुर, पचीसवाँ संस्करण, 2034 वि.), पृ. 176।

हैं – (1) प्रभु, स्वामी, मालिक; (2) स्वत्वधारी, हकदार; (3) योग्यता या क्षमता रखनेवाला, उपयुक्त पात्र; (4) अफसर, (5) किसी विषय का पूर्ण ज्ञाता, पंडित; (6) नाटक का वह पात्र जिसे रूपक का प्रधान फल प्राप्त होता है।[1] इसी प्रकार **बृहत् हिंदी कोश** इस शब्द के निम्नांकित अर्थ स्वीकार करता है: विशेषण – अधिकार रखनेवाला, हकदार; संज्ञा – वह वस्तु जिसपर किसी का स्वत्व हो; वह जिसमें पात्रता हो; मालिक; शासक; अफसर; पुरुष (सृष्टिकर्ता); वेदांत का ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति; नाटक का वह पात्र जिसे मुख्य फल की प्राप्ति होती है।[2] दोनों कोशों में एक अर्थ उभयनिष्ठ है – उपयुक्त पात्र अथवा वह जिसमें पात्रता हो। और, यही यहाँ इस शब्द का एकमात्र अर्थ है। तात्पर्य यह है कि ढोल, पशु और नारी प्रहार के उपयुक्त हैं। यहाँ सदा स्मरण रखने की आवश्यकता है कि ढोल और पशु के सम्बंध में जो प्रहार अभिप्रेत है वही नारी के सम्बंध में नहीं है। नारी के सम्बंध में वह प्रहार कामशास्त्रीय प्रहार है जिसका औचित्य ऊपर सिद्ध किया जा चुका है।

निष्कर्षतः, यहाँ 'ताड़ना' शब्द में श्लेष अलंकार है जिसके कारण उसके दो अर्थ हैं – (1) ढोल, पशु और नारी के संदर्भ में 'प्रहार' और गँवार तथा शूद्र के संदर्भ में 'डाँट-डपट'। ये दोनों ही अर्थ कोश-सम्मत और बुद्धि-संगत हैं। यहाँ स्मरण करा देने की प्रबल आवश्यकता है कि प्राचीन काव्य के अर्थ-निर्धारण में पाठालोचन (Textual Criticism), शब्दकोश, व्याकरण, भाषाविज्ञान और तर्क (Reasoning) को ताक पर नहीं रखा जा सकता जबकि सारे टीकाकारों ने यही कार्य किया है।

---

1. **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर** (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, एकादश संस्करण, 2054 वि.)।
2. **बृहत् हिंदीकोश** (ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.)।

9

अवगुन आठ सदा उर रहहीँ

यह प्रकरण लंकाकांड में आया है। रावण और मंदोदरी में सम्वाद चल रहा है। संध्या समय अखाड़े में मंदोदरी के साथ बैठा हुआ रावण नाच-गान देख रहा है। श्री राम एक ही बाण से रावण के छत्र-मुकुट और मंदोदरी के कर्णफूल को काट गिराते हैं। मंदोदरी इस अद्‌भुत घटना से अत्यंत भयभीत हो जाती है और श्री राम के अलौकिक स्वरूप का वर्णन करती हुई रावण से अनुरोध करती है कि वह उनसे वैर छोड़कर प्रेम करे और उनकी शरण में जाय। इसके उत्तर में रावण कहता है –

बिहसा नारिबचन सुनि काना।
अहो मोहमहिमा बलवाना।।
नारिसुभाउ सत्य कबि कहहिँ।
अवगुन आठ सदा उर रहहीँ।।
साहस अनृत चपलता माया।
भय अबिबेक असौच अदाया।।[1]

[पत्नी के वचन कानों से सुनकर रावण खूब हँसा और बोला – अहो! मोह (अज्ञान) की महिमा बड़ी बलवान् है। नारियों के स्वभाव के सम्बंध में कविगण सत्य ही कहते हैं कि उसके हृदय में सदा आठ अवगुण रहते हैं – 1. साहस, 2. झूठ, 3. चंचलता, 4. माया (छल), 5. भय (भीरुता), 6. अविवेक, 7. अपवित्रता और 8. निर्दयता]।

यहाँ तुलसीदास पर आक्षेप है कि उन्होंने जिन दुर्गुणों का स्थायी निवास स्त्रियों में बतलाया है, वे तो पुरुषों में भी पाये जाते हैं, फिर

---

1. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, लंकाकांड 15/1-3।

उन्होंने स्त्रियों के लिए ही ऐसा क्यों कहा। इस आधार पर तुलसीदास को स्त्री-विरोधी और स्त्री-निंदक सिद्ध किया जाता है। ध्यातव्य है कि यदि यह कोई विचार है भी तो यह तुलसीदास का नहीं, रावण का विचार है। **रामचरितमानस** में तुलसीदास का प्रवक्ता रावण नहीं है। वहाँ उनको जो संदेश देना है वह श्री राम के मुख से कहलाया है, वसिष्ठ मुनि के मुख से कहलाया है। **रामचरितमानस** एक प्रबंधकाव्य है जिसमें अनेक प्रकार के पात्र हैं। उसमें कोई खल पात्र भी होता है। सबके मुख से निकला हुआ वचन कवि का वचन नहीं होता। प्रबंधकाव्य में पात्र अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार तो बोलते ही हैं, प्रसंग के आग्रह पर भी बोलते हैं। प्रबंधकाव्य के पात्रों के कथनों पर विचार करते हुए सदा इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

इस प्रकरण के सम्बंध में दूसरी बात यह है कि यह पति-पत्नी का विनोदपूर्ण वार्तालाप है, किसी गम्भीर विषय का प्रतिपादन नहीं। तुलसीदास ने स्वयं रावण-मंदोदरी के इस सम्वाद को विनोद की संज्ञा दी है

एहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति सभा गएउ मद अंध।।[1]

[इस प्रकार बहुत-से विनोद करते हुए रावण को सबेरा हो गया। तब स्वभाव से ही निडर और घमंड में अंधा लंकापति सभा में गया]। किसी खल पात्र की विनोदमयी उक्ति को कवि का विचार मान लेना उचित नहीं।

इस काव्यशास्त्रीय औचित्य के साथ-साथ संदर्भित उक्ति का औचित्य अन्य प्रकार से भी सिद्ध होता है। जैसा अन्य प्रसंगों में कहा गया है, तुलसीदास शास्त्र के साथ-साथ लोक को भी महत्त्व देते थे। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है कि "उनका **रामचरितमानस** लोकमत-प्रधान ग्रंथ है जिसमें प्रायः सभी तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं का समर्थन दिखायी देता है...।"[2] इसका एक प्रमाण संदर्भित उक्ति भी

---

1. **रामचरितमानस**, काशिराज संस्करण, लंकाकांड, दोहा-संख्या 16।
2. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, **गोसाईं तुलसीदास** (वाराणसी, 2022 वि.), पृ. 27।

है। संदर्भित उक्ति एक लोकमत का पुनर्कथन है। **चाणक्यनीतिदर्पण** (2/1) में कहा गया है –

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलुब्धता।
अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।।[1]

[झूठ बोलना, साहस, छल-कपट, मूर्खता, अत्यंत लोभ, अपवित्रता और निर्दयता – ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं।]

यही श्लोक किंचित् शब्दांतर के साथ **हितोपदेश** में भी पाया जाता है–

असत्यं, साहसं, माया, मात्सर्यं चाऽतिलुब्धता।
निर्गुणत्वमशौचत्वं, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।।[2]

[असत्य, साहस, माया, डाह, अत्यंत लोभ, निर्गुणता, अपवित्रता, ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं।]

तुलसीदास ने इसी लोकमत को रावण के मुख से कहला दिया है जो खल पात्र है। कुछ टीकाकारों ने तुलसीदास को स्त्री-निंदा के आरोप से बचाने के लिए मंदोदरी में इन आठ दोषों को दिखाकर यह सिद्ध करना चाहा है कि सामान्य (general) स्त्रियों के लिए यह बात नहीं कही गयी है, रावण ने मंदोदरी को लक्ष्य कर यह बात कही है।[3] यह प्रयास निरर्थक है। तुलसीदास ने एक लोकमत को एक खल पात्र के मुख से **विनोद** में कहला दिया है। इसे गम्भीरता से नहीं लिया जाना चाहिए। प्रसंग और वक्ता पर ध्यान नहीं देने के कारण लोग इस चौपाई को तुलसीदास के द्वारा की गयी स्त्री-निंदा के रूप में ग्रहण कर लेते हैं।

---

1. **चाणक्यनीतिदर्पण**, व्याख्याकार : डॉ. गुंजेश्वर चौधरी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2015 ई., पृ. 12।
2. **हितोपदेश**, सम्पादक : प्रो. बालशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2016 ई., पृ. 139।

3(क). **श्रीरामचरितमानस**, टीकाकार : विजयानंद त्रिपाठी, प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2004 ई., 332-33।

(ख). **मानस-पीयूष**, खंड 6, गीताप्रेस, गोरखपुर, तेरहवाँ पुनर्मुद्रण 2067 वि., पृ. 105-6।

प्रस्तुत चौपाई पर जिस दृष्टि से विचार होना चाहिए उसपर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। वस्तुतः इसपर काव्यहरण की दृष्टि से विचार होना चाहिए। प्रस्तुत चौपाई में केवल एक लोकसत्य ही प्रतिबिम्बित नहीं हो रहा है अपितु इसमें तुलसीदास की काव्य-प्रतिभा का चमत्कार भी झलक रहा है। प्राक्तन कवियों की उक्तियों को अपनी कृति में मौलिक के समान ग्रहण कर लेना काव्यहरण है। राजशेखर आदि आचार्यों ने इसका विस्तृत विवेचन किया है और इसे स्वाभाविक माना है।[1] राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "नास्त्यचौरः कविजनो नास्तचौरो वणिग्जनः"[2] अर्थात् कवि और व्यापारी, ये दोनों चोर न हों, ऐसा नहीं हो सकता। राजशेखर ने बहुत व्यावहारिक बात कही है। सभी कवि न्यूनाधिक रूप में यह कार्य करते आ रहे हैं। इस मामले में तुलसीदास की अपूर्व विशेषता यह है कि इनकी ऐसी उक्तियों का स्रोत जान लेने के बाद भी इन उक्तियों में मौलिकता का स्वारस्य कम नहीं होता है। काव्यहरण के औचित्य की कसौटी भी यही है। अब इस दृष्टि से तुलसीदास की संदर्भित उक्ति की परीक्षा की जाय।

चाणक्यनीतिदर्पण, हितोपदेश और **रामचरितमानस** में वर्णित नारियों के अवगुणों की तुलना की जाय।

चाणक्यनीतिदर्पण	**हितोपदेश**	**रामचरितमानस**
1. असत्य	1. असत्य	1. साहस
2. साहस	2. साहस	3. असत्य
3. माया	3. माया	3. चपलता
4. मूर्खता	4. डाह	4. माया
5. अत्यंत लोभ	5. अत्यंत लोभ	5. भय
6. अपवित्रता	6. निर्गुणता	6. अविवेक
7. निर्दयता	7. अपवित्रता	7. अपवित्रता
		8. निर्दयता

---

1. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य : **तुलसीदास का आचार्यत्व**, डॉ. सियाराम तिवारी (नयी दिल्ली, 1985), पृ. 106।
2. राजशेखर, **काव्यमीमांसा**, अनु. केदारनाथ शर्मा सारस्वत (पटना, 1954), पृ. 151।

तुलसीदास की पहली मौलिकता तो यही है कि उन्होंने **चाणक्यनीतिदर्पण** और **हितोपदेश** का अंधानुकरण न कर स्वतंत्र रूप से सोचा है, इसलिए अवगुणों की संख्या आठ हो गयी है जबकि शेष दो में सात-सात ही अवगुण बतलाये गये हैं। दूसरी बात, **चाणक्यनीतिदर्पण** और **हितोपदेश** की सूची में जो एक अवगुण कहा गया है 'अत्यंत लोभ', उसको तुलसीदास ने छोड़ दिया है। इसका कारण यह हो सकता है कि इस दृष्टि से वे स्त्री और पुरुष में अंतर नहीं मानते थे। तुलसीदास की सूची में दो दुर्गण ऐसे हैं जो उन दोनों में नहीं है – एक तो चपलता और दूसरा भय। ये दोनों विशेषताएँ स्त्री-स्वभाव में होती हैं। यह अनुभव करने की बात है जिसे मनोविज्ञान से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ एक दूसरी शंका हो सकती है और वह यह कि साहस और भय तो परस्पर-विरोधी भाव हैं, फिर दोनों का एक साथ स्त्रियों में रहना कैसे कहा जा रहा है। ऊपर-ऊपर देखने पर ऐसा लगता भी है कि जिसमें भय होगा वह साहसी कैसे हो सकता है। गौर करने पर यहाँ शंका की गुंजाइश नहीं है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति आवेश में आकर हठात् ऐसा भी काम कर बैठता है जिसकी सामान्यतया उससे आशा नहीं की जाती है। परिणाम पर ध्यान दिये विना किसी ओर पग बढ़ा देना, किसी कार्य में प्रवृत्त हो जाना, यही साहस है। स्त्रियों में इस अवगुण के होने की बात इसलिए कही गयी है कि उनमें अविवेक होता है। इसी तरह स्त्रियों में चपलता का होना भी अनुभवसिद्ध है। उनमें धैर्य का अभाव होता है, इसलिए उनमें चपलता होती है। तुलसीदास अधिक व्यावहारिक हैं।

तुलसीदास की व्यावहारिकता इससे भी सिद्ध है कि उन्होंने पति-पत्नी के विनोदपूर्ण वार्तालाप में लपेटकर इसे प्रस्तुत किया है।

10

मिलै न जगत सहोदर भ्राता

यह प्रसंग लंकाकांड में आया है। मेघनाद की चलायी हुई बरछी से आहत होकर लक्ष्मण जी मूर्च्छित हो गये हैं। हनुमान् औषधि लाने गये हुए हैं। उनके लौटने में विलम्ब होता देखकर श्री राम कातर होकर मनुष्य के समान विलाप करने लगते हैं। उसी विलाप में वे कहते हैं –

सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिँ जाहिँ जग बारहि बारा।।
अस बिचारि जिय जागहु ताता।
मिलै न जगत सहोदर भ्राता।।[1]

[पुत्र, धन, स्त्री और परिवार – ये जगत् में बार-बार होते और जाते हैं, परंतु जगत् में सहोदर भाई बार-बार नहीं मिलता। हे तात! मन में ऐसा विचार करके जगिए।]

यहाँ विवाद इस बात पर है कि रामचंद्र जी कौसल्या और लक्ष्मण जी सुमित्रा के पुत्र थे, फिर वे दोनों सहोदर कैसे हुए। 'सहोदर' की परिभाषा तो यह दी गयी है कि "समानं उदरं येषां ते सहोदरः", अर्थात् एक ही उदर (कुक्षि) से जन्मे हुए को सहोदर कहते हैं। राजा दशरथ की तीन रानियाँ थीं। पटरानी कौसल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न एवं कनिष्ठा रानी कैकेयी से भरत उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार, 'सहोदर' शब्द का आज जो सामान्य अर्थ प्रचलित है, उसके अनुसार राम और लक्ष्मण सहोदर भाई नहीं कहे जा सकते। फिर, तुलसीदास ने लक्ष्मण के लिए श्री राम के द्वारा 'सहोदर भ्राता' शब्द का प्रयोग क्यों कराया, यही विचारणीय प्रश्न है।

---

1. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, पृ. 361।

लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध में आहत होकर लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर श्री राम जो विलाप करते हैं, उसीमें लक्ष्मण के लिए 'सहोदर' विशेषण का प्रयोग हुआ है। श्री राम का विलाप **वाल्मीकीय रामायण** में भी आया है। वहाँ भी 'सहोदर' शब्द का प्रयोग हुआ है –

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः।।[1]

[प्रत्येक देश में स्त्रियाँ मिल सकती हैं, देश-देश में जाति-भाई उपलब्ध हो सकते हैं; परंतु ऐसा कोई देश मुझे नहीं दिखायी देता, जहाँ सहोदर भाई मिल सके।] वाल्मीकि के द्वारा इस शब्द के प्रयोग से ऐसा अनुमान होता है कि सम्भव है, प्राचीन काल में विभिन्न पाणिग्रहीता धर्मपत्नियों से उत्पन्न एक पिता के सारे पुत्र सहोदर कहलाते रहे हों। इसीलिए वाल्मीकि ने श्री राम से लक्ष्मण के लिए 'सहोदर' कहलाया और उन्हींका अनुकरण कर तुलसीदास ने भी 'सहोदर' शब्द का प्रयोग किया। इस तरह यह परम्परा-पालन कहा जायगा।

मानस में इस शब्द के प्रयोग का सबसे बड़ा औचित्य दूसरा है। यहाँ 'सहोदर' शब्द का व्युत्पत्यर्थ अथवा अभिधेयार्थ ग्रहण करना उचित नहीं। यहाँ इसका अर्थ है एक जैसा, एक समान, एक सदृश[2] और यह समानता या सादृश्य बाह्य रूप की अर्थात् केवल देखने मात्र की नहीं वरन् आंतरिक और बाह्य अर्थात् सब प्रकार की (in all respects) समानता है। 'ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द' जैसे प्रयोग में 'सहोदर' शब्द का यही अर्थ देखा जाता है। श्री राम लक्ष्मण के प्रति ऐसी ही सहोदरता का अनुभव करते हैं, इसीलिए उन्होंने उनके लिए 'सहोदर' शब्द का प्रयोग किया है। सत्य भी यही है कि राम और लक्ष्मण समानधर्मा थे, अतः सहोदर थे।

---

1. **वाल्मीकीय रामायण**, गीताप्रेस, गोरखपुर, उनतालीसवाँ पुनर्मुद्रण, 2067 वि., युद्धकांड 101/15, पृ. 514।
2. द्रष्टव्य : **बृहत् हिंदी कोश**, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।

प्रस्तुत प्रसंग में 'सहोदर' शब्द का व्युत्पत्यर्थ अथवा अभिधेयार्थ ग्रहण इसलिए भी उचित नहीं है कि इसी विलाप में श्री राम ने लक्ष्मण को 'सुत' कहकर भी सम्बोधित किया है –

अब अपलोकु सोकु सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा।।[1]

[अब तो हे पुत्र! मेरा निष्ठुर और कठोर हृदय यह अपयश और तुम्हारा शोक दोनों ही सहन करेगा।]

यहाँ तो कोई 'सुत' शब्द का 'पुत्र' अर्थ लेते हुए नहीं कहता कि लक्ष्मण को श्री राम ने पुत्र क्यों कहा? यहाँ जिस प्रकार सामान्य बुद्धि से ही समझ लिया जाता है कि दुलार से श्री राम उनको पुत्र कह रहे हैं, उसी प्रकार 'सहोदर भ्राता' के सम्बंध में भी समझना चाहिए कि आत्मीयता का निदर्शन करते हुए श्री राम ने लक्ष्मण के लिए वैसा कहा है।

लक्ष्मण के लिए 'सहोदर भ्राता' शब्द के प्रयोग का एक औचित्य यह भी है कि श्री राम के लिए तो लक्ष्मण के साथ-साथ भरत और शत्रुघ्न भी अनुज (पीछे जनमा हुआ) हुए, पर अनुज के रूप में लक्ष्मण ही प्रसिद्ध थे, भरत और शत्रुघ्न नहीं। श्री राम के अनुज अथवा सहोदर के रूप में लक्ष्मण रूढ़ हो गये थे। आज भी भाई-भाई के प्रगाढ़ प्रेम का बोध कराने के लिए राम-लक्ष्मण का प्रेम कहने की रूढ़ि है। यही कारण है कि लक्ष्मण के लिए 'रामानुज' शब्द रूढ़ हो गया था। **रामचरितमानस** में इसके प्रचुर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सबसे पहले तो विश्वामित्र ही लक्ष्मण का स्मरण श्री राम के अनुज के रूप में करते हैं। वे दशरथ से कहते हैं –

असुरसमूह सतावहिँ मोही।
मैँ जाचन आएउँ नृप तोही।।
अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचरबध मैँ होब सनाथा।।[2]

---

1. **रामचरितमानस**, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 6/60/13, पृ. 361।
2. उपरिवत्, 1/206/10 पृ. 84।

[हे राजन्! राक्षसगण मुझे सताते हैं, इसीलिए मैं तुमसे माँगने आया हूँ। अनुजसहित श्री राम को मुझे दो जिससे राक्षसों के वध में मैं समर्थ होऊँगा।] विश्वामित्र ने तो लक्ष्मण का नाम नहीं लिया? फिर, दशरथ कैसे समझ गये कि वे श्री राम और उनके साथ लक्ष्मण को चाहते हैं, भरत और शत्रुघ्न को नहीं? इसीलिए न कि श्री राम के अनुज के रूप में परिवार के साथ-साथ उसके बाहर भी लक्ष्मण ही जाने जाते थे, भरत और शत्रुघ्न नहीं? श्री राम के द्वारा लक्ष्मण को 'सहोदर' कहना शत-प्रतिशत संगत है, इसका सबसे प्रथम और बड़ा प्रमाण यही है। यही नहीं, तुलसीदास ने स्वयं और अन्यान्य पात्रों से भी 'रामानुज' शब्द का प्रयोग केवल लक्ष्मण के लिए कराया है। तुलसीदास ने सीतान्वेषण के लिए किये जानेवाले प्रयत्नों का समाचार श्री राम को बतलाने के लिए जाते हुए हनुमान्, सुग्रीव, अंगद आदि का वर्णन करते हुए कहा है –

हरषि चले सुग्रीव तब अंगदादि कपि साथ।
रामानुज आगे करि आए जहँ रघुनाथ।।[1]

यहाँ तुलसीदास स्वयं लक्ष्मण के लिए 'रामानुज' शब्द का प्रयोग करते हैं। रावण के दूत से भी वे लक्ष्मण को 'रामानुज' कहलवाते हैं। विभीषण के श्री राम की शरण में चले जाने पर रावण ने अपने दूतों को श्री राम के बल-विक्रम और युद्ध की तैयारी का पता लगाने के लिए भेजा। दूतों ने लौटकर लक्ष्मण का पत्र रावण को देते हुए कहा –

रामानुज दीन्ही येह पाती।
नाथ बचाइ जुड़ावहु छाती।।[2]

तुलसीदास मंदोदरी से भी लक्ष्मण के लिए 'रामानुज' शब्द का प्रयोग कराते हैं। श्री राम के बल-विक्रम का वर्णन करती हुई वह कहती है –

---

1. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 4/20/0, पृ. 302।
2. उपरिवत्, 5/55/9, पृ. 331।

रामानुज लघु रेख खचाई।
सोउ नहि नाघेहु असि मनुसाई।।[1]

[रामानुज अर्थात् लक्ष्मण ने एक छोटी-सी रेखा खींच दी, उसे भी तुम नहीं लाँघ सके, यही तो तुम्हारा पौरुष है!] इसी तरह लक्ष्मण के बाण से बिंधकर प्राण-त्याग करता हुआ मेघनाद भी लक्ष्मण का स्मरण 'रामानुज' के रूप में ही करता है

रामानुज कहँ रामु कहँ अस कहि छाड़ेसि प्रान।
धन्य धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान।।[2]

[राम के छोटे भाई लक्ष्मण कहाँ हैं, राम कहाँ हैं – ऐसा कहकर मेघनाद ने प्राण त्याग दिये। यह देखकर अंगद और हनुमान् कहने लगे – धन्य है तेरी माता जो तू लक्ष्मण जी के हाथों मरा और मरते समय श्री राम-लक्ष्मण का नाम तेरे मुख से उच्चरित हुआ।]

'अनुज' छोटे सहोदर भाई को कहा जाता है। **मानस** में आदि से अंत तक श्री राम के अनुज के रूप में लक्ष्मण का ही नाम आया है। व्यावहारिक रूप में लक्ष्मण ही श्री राम के सहोदर भाई थे, इसीलिए श्री राम ने उनका सहोदर भ्राता के रूप में स्मरण किया। श्री राम के द्वारा लक्ष्मण के प्रति सहोदरता अनुभव करने की व्याख्या तुलसीदास ने बालकांड में ही कर दी है। नामकरण-संस्कार के प्रसंग में वे कहते हैं–

लछनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार।
गुर बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार।।[3]

[जो शुभ लक्षणों के धाम, **श्री राम जी के प्यारे** और सारे जगत् के आधार हैं, गुरु वसिष्ठ जी ने उनका 'लक्ष्मण' ऐसा श्रेष्ठ नाम रखा।]

---

1. **रामचरितमानस**, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 6/35/2, पृ. 351।
2. उपरिवत्, 6/76/0, पृ. 368।
3. उपरिवत्, 1/197, पृ. 80।

इसको पुष्ट करते हुए, इसी प्रसंग में उन्होंने और अधिक स्पष्ट करके कहा –

बारेहि तें निज हित पति जानी।
लछिमन रामचरन रति मानी।।[1]

[बचपन से ही श्री रामचंद्र जी को अपना परम हितैषी स्वामी जानकर लक्ष्मण ने उनके चरणों में प्रीति जोड़ ली।] अर्थात् लक्ष्मण के प्रति श्री राम के द्वारा सहोदरता का अनुभव करना केवल श्री राम की ओर से ही नहीं है। वह एकतरफा नहीं है, वह राम और लक्ष्मण की पारस्परिक अनुभूति है। श्री राम के द्वारा लक्ष्मण के लिए सहोदर कहे जाने का इससे बड़ा औचित्य और क्या हो सकता है?

श्री राम और लक्ष्मण के सहोदर-सुलभ पारस्परिक प्रेम को **आनन्दरामायण** में भी स्वीकार किया गया है –

अथ ववृधिरे सर्वे लक्ष्मणो राघवेण हि।
शत्रुघ्नो भरतेनापि चकार क्रीडनादिकम्।।

[लक्ष्मण राम के साथ और शत्रुघ्न भरत के साथ खेलते हुए बढ़ने लगे।][2]

निष्कर्ष यह है कि पारस्परिक अनन्य प्रीति के कारण राम और लक्ष्मण परिवार तथा उसके बाहर सहोदर भाई के रूप में ही प्रसिद्ध थे। इसीलिए पहले वाल्मीकि और फिर तुलसीदास ने दोनों को सहोदर कहा।

---

1. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 1/197/3, पृ. 80।
2. आनन्दरामायणम्, व्याख्याकार : पं. रामतेज पांडेय, प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009 ई., सार खंड 2/12, पृ. 9।

11

निज जननी के एक कुमारा

यह प्रसंग लंकाकांड में आया है। मेघनाद के द्वारा चलायी गयी शक्ति से लक्ष्मण मूर्च्छित हैं। इससे घबराकर श्री राम विलाप करते हुए कहते हैं–

निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।।[1]

गीताप्रेस के संस्करण में इस चौपाई का अर्थ इस प्रकार दिया गया है– "हे तात! तुम अपनी माता के एक ही पुत्र और उसके प्राणाधार हो।"[2] यहाँ इसका यह अभिप्राय लिया जाता है कि श्री राम लक्ष्मण को अपनी माता का एकलौता पुत्र बतला रहे हैं जबकि लक्ष्मण और शत्रुघ्न, दोनों सुमित्रा के पुत्र थे। यही यहाँ विवाद या शंका का विषय है।

'एक' शब्द का सम्यक् अर्थ ग्रहण नहीं करने के कारण श्री राम के कथन में विसंगति दिखायी पड़ती है। इसकी एक सफाई यह दी गयी है कि यह बात तो श्री राम सामान्य अवस्था में कह नहीं रहे हैं, वे तो कातर होकर प्रलाप कर रहे हैं, घबराहट (nervousness) के कारण उनके मुख से ऐसी विसंगत बात निकल गयी है और इसके प्रमाण में "प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर" (लंका., सोरठा 61) की याद दिलाते हैं।[3] तो क्या प्रलाप करते हुए श्री राम के निकट तुलसीदास खड़े होकर सब सुन रहे थे और जैसा सुना, वैसा लिपिबद्ध कर दिया? तुलसीदास के

---

1. **रामचरितमानस**, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 6/60/14, पृ. 361।
2. **रामचरितमानस**, मझला साइज, बीसवाँ संस्करण, 2034 वि., 6/60/14, पृ. 795।
3. रामदास गौड़, **श्रीरामचरितमानस की भूमिका**, हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1982, दूसरा खंड (मानस-शंकावली), पृ. 99।

बचाव की यह हास्यास्पद कुचेष्टा है। ऐसा तर्क तुलसीदास के काव्य के शब्द-प्रयोगों की बारीकी को नहीं समझ पाने का परिणाम है। तुलसीदास के प्रयोगों की बारीकियों को कोश, व्याकरण, भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र आदि के आधार पर परखने की जरूरत है, न कि उनका बचाव करने की आवश्यकता है। उनका कथन सुविचारित, तर्कसंगत और लोकसम्मत है।

ध्यातव्य है कि विलाप के आरम्भ में ही कवि ने श्री राम के द्वारा लक्ष्मण को सहोदर भ्राता कहलाया है। फिर, तत्काल वे लक्ष्मण को एकलौता पुत्र कैसे बतला सकते हैं? निश्चय ही यहाँ 'एक' शब्द का अर्थ गिनती के पहले अंक का बोधक नहीं है। देखा जाय कि कोश-ग्रंथों में 'एक' शब्द के कितने अर्थ दिये गये हैं और उनमें से कौन-सा अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में ग्रहण करने योग्य है।

संस्कृत में 'एक' शब्द के नौ अर्थ स्वीकृत किये गये हैं – (1) एक, अकेला, एकाकी, केवल मात्र (2) जिसके साथ कोई और न हो (3) वही, बिलकुल वही, समरूप (4) स्थिर, अपरिवर्तित (5) **अपने प्रकार का अकेला, अद्वितीय, एकवचन** (6) मुख्य, सर्वोपरि, प्रमुख, अनन्य (7) अनुपम, बेजोड़ (8) दो या बहुत में से एक (9) बहुधा अँगरेजी के अनिश्चयवाचक निपात (a या an) की भाँति प्रयुक्त।[1]

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर में इसे विशेषण बतलाते हुए चार अर्थ बतलाये गये हैं – (1) इकाइयों में सबसे छोटी और पहली संख्या, (2) **अद्वितीय, बेजोड़, अनुपम, निराला, अपूर्व,** (3) कोई, अनिश्चित, (4) एक ही प्रकार का, समान, तुल्य, एक-सा।[2]

बृहत् हिंदी कोश में इसके विशेषण और संज्ञा-रूप में अलग-अलग अर्थ बतलाये गये हैं। विशेषण-रूप में इसके ये अर्थ स्वीकृत हुए हैं – (1) पहले अंक या ईकाई से सूचित, दो का आधा; (2) अकेला; (3) **जैसा दूसरा न हो,** बेजोड़; (4) वही; (5) अपरिवर्तित; (6) स्थिर; (7) प्रधान; (8) सत्य; (9) ईषत्; (10) कोई; (11) एक भी; (12) कोई या कुछ भी

---

1. वामन शिवराम आप्टे, **संस्कृत-हिंदी कोश**, मोतीलाल बनारसीदास, 1966।
2. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।

(एक न चलना, एक न सुनना); (13) जो मिलकर एक चीज, एक रूप हो गया हो, भेदरहित। संज्ञा रूप में वहाँ इसके पाँच अर्थ दिये गये हैं – (1) पहला अंक या इकाई; (2) 1; (3) विष्णु; (4) परमात्मा; (5) ऐक्य, साम्य।[1]

तुलसी-शब्दसागर में इसके चार अर्थ स्वीकार किये गये हैं – (1) एक; (2) सबसे छोटी पूर्ण संख्या, 1, केवल एक, गिनती की पहली संख्या; (3) **अद्वितीय, बेजोड़**; (4) अकेला, एकाकी; (5) कोई, अनिश्चित।[2]

विदेशी विद्वानों द्वारा निर्मित हिंदी के कोशों में कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी के हिंदी के लेक्चरर आर.एस.मैक्ग्रेगर का कोश अद्यतन और सर्वाधिक प्रामाणिक है। उसमें 'एक' शब्द को विशेषण मानकर उसके अर्थ दिये गये हैं – (1) one. (2) single, sole, alone (3) the same, identical. (4) united; at one; in harmony. (5) **unique.** (6) pre-eminent।[3]

उपर्युक्त सभी कोशों में 'एक' शब्द का एक अर्थ यह स्वीकार किया गया है– अपने प्रकार का अकेला अर्थात् जिसके समान दूसरा न हो। तुलसीदास को 'एक' शब्द का यही अर्थ यहाँ अभीष्ट है। श्री राम यहाँ लक्ष्मण को कह रहे हैं कि तुम अपनी माता के एक ही पुत्र हो, अर्थात् तुम्हारे समान और कोई नहीं है, शत्रुघ्न भी नहीं हैं। सचमुच शत्रुघ्न लक्ष्मण के समान कहाँ थे? लक्ष्मण तो लक्ष्मण ही थे। 'सहोदर' वाले प्रसंग में यह दिखाया जा चुका है कि 'रामानुज' के रूप में तो लक्ष्मण ही प्रसिद्ध थे, शत्रुघ्न नहीं। दोनों समान होते तो दोनों 'रामानुज' के रूप में प्रसिद्ध होते। यही नहीं, सुमित्रा के पुत्र के रूप में भी लक्ष्मण ही प्रसिद्ध थे। 'सौमित्र' (सुमित्रा का पुत्र), 'सुमित्रानन्दवर्द्धनः' (सुमित्रा के आनंद को बढ़ानेवाले) जैसे शब्द केवल लक्ष्मण के लिए ही प्रयुक्त हैं, शत्रुघ्न के लिए नहीं। और, ऐसा प्रयोग केवल **रामचरितमानस** में ही नहीं, वरन् अन्यान्य ग्रंथों में भी हुआ है। **वाल्कीमीय रामायण** से एक उदाहरण अलम् होगा –

---

1. ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।
2. सम्पादक : भोलानाथ तिवारी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2009 ई.।
3. आर.एस. मैक्ग्रेगर, **ऑक्सफोर्ड हिंदी-इंग्लिश डिक्शनरी**, पेपरबैक, 1995 ई.।

अर्दिताश्चैव बाणौघैस्ते प्रवेकेण रक्षसाम्।
सौमित्रेः सा विनिर्भिद्य प्रविष्टा धरणीतलम्।।

[क्योंकि वे वानर भी राक्षसशिरोमणि रावण के बाण-समूहों से बहुत पीड़ित थे। वह शक्ति सौमित्र (लक्ष्मण) के शरीर को विदीर्ण करके धरती तक पहुँच गयी थी।][1] यहाँ भी 'सौमित्र' (सुमित्रा का पुत्र) का प्रयोग लक्ष्मण के लिए ही हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त ने **साकेत** में लक्ष्मण के लिए 'सौमित्रि' शब्द का बार-बार प्रयोग किया है। एक उदाहरण इस प्रकार है–

वचन सुन सौमित्रि लज्जित हो गये,
प्रेम-सागर में निमज्जित हो गये।[2]

इन उदाहरणों से यह सिद्ध है कि सुमित्रा के पुत्र के रूप में लक्ष्मण ही प्रसिद्ध थे। इस प्रकार लक्ष्मण को अपनी माता का एक पुत्र कहने में कोई विसंगति नहीं है।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'एक' शब्द का भी प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में तुलसीदास ने किया है। **साकेत** के अष्टम सर्ग में यह प्रसंग आया है। चित्रकूट की सभा लगी हुई है। भरत की करुणार्द्र वाणी और कैकेयी का पश्चात्तापमय घर लौट चलने का आग्रह सुनकर श्री राम अभिभूत हैं। उनके मुख से भरत और उनकी माता कैकेयी, दोनों के लिए प्रशंसा के उद्गार फूट पड़ते हैं –

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई–
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

---

1. वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 39वाँ संस्करण, 2067 वि., युद्ध कांड, 100/42, पृ. 512।
2. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, प्रथम सर्ग, पृ. 28।

यों तो यथार्थ यही है कि कैकेयी के भरत ही एकमात्र पुत्र थे किंतु यहाँ 'एक लाल' कहने का तात्पर्य केवल इस तथ्य की सूचना देना नहीं है। तब, इसमें भरत की क्या बड़ाई होती? श्री राम तो यहाँ पहले भरत, फिर कैकेयी को प्रशंसनीय बतलाना चाह रहे हैं! इसीलिए वे कह रहे हैं कि भरत तो अपनी माता का एक ही पुत्र है, अर्थात् भरत-जैसे पुत्र अनेक नहीं होते, भरत-सदृश पुत्र तो कोई-कोई ही होता है और ऐसे पुत्र की माता बनकर कैकेयी भी धन्य है। मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'एक' शब्द का वैसा ही चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया जैसा तुलसीदास ने किया था।

ज्ञातव्य है कि **आनन्दरामायण** में सुमित्रा के गर्भ से केवल लक्ष्मण का जन्म लेना कहा गया है –

ततः सुमित्रापुरतः शेषोऽभूद्बालरूपधृक्।।
आविर्भूतौ द्वौ यमलौ कैकेय्याः शंखचक्रके।
एवं ते जनिता बालाश्चत्वारः समये शुभे।।
ज्येष्ठं रामं तु कौसल्यातनयं प्राह वै गुरुः।।
सुमित्रातनयं नाम्ना लक्ष्मणं गुरुरब्रवीत्।
ततो भरतशत्रुघ्ननामनी प्राह वै गुरुः।।
रमणाद्राम एवासौ लक्षणैर्लक्ष्मणस्त्विति।
भरणाद्भरतश्चेति शत्रुघ्नः शत्रुतर्जनात्।।
अथ ववृधिरे सर्वे लक्ष्मणो राघवेण हि।
शत्रुघ्नो भरतेनापि चकार क्रीडनादिकम्।।

[बाद में सुमित्रा के गर्भ से शेषावतार लक्ष्मण जी बालभाव से प्रकट हुए। फिर कैकेयी के गर्भ से विष्णु के शंखचक्र अवतार लेकर एक साथ भरत-शत्रुघ्न पैदा हुए। इस प्रकार वे चारों बालक शुभ समय, अच्छे लग्न और शुभ नक्षत्र में उत्पन्न हुए। वसिष्ठ जी ने कौसल्या के सबसे बड़े पुत्र का नाम 'राम' रखा। सुमित्रा के पुत्र का नाम लक्ष्मण और कैकेयी के दोनों पुत्रों के नाम भरत तथा शत्रुघ्न रखा। मनोहर तथा आनंददायक होने से राम, शुभ लक्षणों से युक्त होने से लक्ष्मण, प्रजा का भरण-पोषण

करने में निपुण होने से भरत और शत्रुनाशक होने से वसिष्ठ ने उनका शत्रुघ्न नाम रखा। लक्ष्मण राम के साथ और शत्रुघ्न भरत के साथ खेलते हुए बढ़ने लगे।][1]

तुलसीदास ने **आनन्दरामायण** को ध्यान में रखकर लक्ष्मण को अपनी माता का 'एक' पुत्र नहीं कहा है। उन्होंने 'एक' शब्द का प्रयोग 'जो अपने ढंग का अकेला है', 'जिसके समान दूसरा नहीं है' के अर्थ में किया है जो सब प्रकार से उचित है। यह अर्थ कोश-सम्मत और प्रसंग-संगत है।

---

1. आनन्दरामायणम्, व्याख्याकार : पं. रामतेज पांडेय, प्रकाशक : चौखम्वा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009 ई., सारकांड 2/6-12, पृ. 8-9।

12

सत पंच चौपाई मनोहर

(पूर्वार्ध)

यह प्रसंग उत्तरकांड में आया है। **रामचरितमानस** के पाठ की फलश्रुति का निर्देश करते हुए तुलसीदास कहते हैं –

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्री रघुवर हरे।।[1]

गीताप्रेस के संस्करण में इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है – "[अधिक क्या] जो मनुष्य पाँच-सात चौपाइयों को भी मनोहर जानकर [अथवा रामायण की चौपाइयों को श्रेष्ठ पंच (कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सच्चा निर्णायक) जानकर उनको] हृदय में धारण कर लेता है, उसके भी पाँच प्रकार की अविद्याओं से उत्पन्न विकारों को श्री राम जी हरण कर लेते हैं (अर्थात् सारे रामचरित्र की तो बात ही क्या है, जो पाँच-सात चौपाइयों को भी समझकर उसका अर्थ हृदय में धारण कर लेते हैं, उनके भी अविद्याजनित सारे क्लेश श्री रामचंद्र जी हर लेते हैं।)[2] यहाँ 'सत पंच' के दो अर्थ लिये गये हैं– (1) पाँच-सात और (2) श्रेष्ठ पंच, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम अर्थ पर ही बल है क्योंकि निष्कर्षात्मक वाक्य में पाँच-सात चौपाइयों की ही बात कही गयी है। इसी तरह 'जानि' पद के भी दो अर्थ ग्रहण किये गये हैं– (1) जानकर और (2) समझकर। यहाँ बल द्वितीय अर्थ पर है। इस प्रसंग में सारा विवाद 'सत पंच' के अर्थ को लेकर है, इसलिए सर्वप्रथम यही विचारणीय है।

---

1. **रामचरितमानस**, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 1962, उत्तरकांड 129/16, पृ. 458।
2. **श्रीरामचरितमानस**, मझला साइज, बीसवाँ संस्करण, 2034 वि., पृ. 1001।

तुलसी-शब्दसागर[1] में 'सत' शब्द के तीन अर्थ ग्रहण किये गये हैं – पहला, संस्कृत के 'सप्त' शब्द से व्युत्पन्न मानकर 'सात' अर्थ लिया गया है और इसके उदाहरण में "सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे" को उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि **तुलसी-शब्दसागर** विवेच्य प्रसंग में 'सत' शब्द का 'सात' अर्थ ग्रहण करता है। दूसरा, संस्कृत के 'शत' शब्द से व्युत्पन्न मानकर 'सौ' और 'बहुत', ये दो अर्थ स्वीकार किये गये हैं। और तीसरा, संस्कृत के 'सत्य' शब्द से व्युत्पन्न मानकर 'सत्य' और 'सुंदर', ये दो अर्थ ग्रहण किये गये हैं। प्रथम दो अर्थों का सम्बंध प्रस्तुत प्रसंग से है।

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर[2] में भी 'सत' शब्द को विशेषण मानते हुए इस प्रकार अर्थ दिया गया है – "सात" (संख्या) का संक्षिप्त रूप (यौगिक)। साथ ही, वहाँ इस शब्द का 'शत' (सौ) अर्थ भी स्वीकार किया गया है। **बृहत् हिंदी कोश**[3] में तीन प्रकार के 'सत' शब्द दिये गये हैं जिनमें से प्रथम दो को तो पद्य में प्रयुक्त होनेवाला बतलाया गया है और क्रमशः उनके ये दो अर्थ दिये गये हैं – (1) सत्य, यथार्थ एवं (2) सौ। हिंदी के साधु शब्द के रूप में इसका तीसरा अर्थ इस प्रकार दिया गया है – वि. सात का समासगत लघु रूप, जैसे सतकोन (सात कोनोंवाला)। इस प्रकार यह देखा जाता है कि कोशों में 'सत' शब्द के 'सात' और 'सौ' दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं, पर बल 'सात' पर है।

इसी तरह गीताप्रेस के संस्करण में 'पंच' शब्द के दो अर्थ लिये गये हैं – 'पाँच' और 'पंच' (निर्णायक)। **तुलसी-शब्दसागर**[4] में 'पंच' शब्द के कई अर्थ दिये गये हैं जिनमें पहला अर्थ है 'पाँच' और तीसरा अर्थ है 'वह जो किसी मामले का फैसला करे'। **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर**[5] में इस

---

1. तुलसी-शब्दसागर, सम्पादक : भोलानाथ तिवारी, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2009 ई.।
2. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।
3. ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।
4. सम्पादक : भोलानाथ तिवारी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2009।
5. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।

शब्द का विशेषण के रूप में एक ही अर्थ दिया गया है 'पाँच' और संज्ञा-रूप में इसके पाँच अर्थ दिये गये हैं जिनमें पहला है 'पाँच' की संख्या या अंक' और पाँचवाँ अर्थ है 'निर्णायक'। **बृहत् हिंदीकोश**[1] में इस शब्द के विशेषण-रूप में 'पाँच' और संज्ञा-रूप में 'न्याय करनेवाली सभा', 'पंचायत का सदस्य' अर्थ ग्रहण किया गया है। निष्कर्षतः, कोशों में 'पंच' शब्द के दो अर्थ स्वीकृत हैं – 'पाँच' और 'निर्णायक'। अब देखना है कि प्रस्तुत संदर्भ में इसका कौन-सा अर्थ स्वीकरणीय है।

यहाँ 'पंच' शब्द का 'निर्णायक' अर्थ स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होता। इसके निम्नांकित कारण हैं –

(1) इस चौपाई की जो दूसरी अर्धाली है उसमें भी 'पंच' शब्द आया है जहाँ उसका निर्विवाद अर्थ 'पाँच' है। एक ही चौपाई में किसी शब्द का दो बार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होना संगत नहीं प्रतीत होता। लाटानुप्रास अलंकार में अवश्य ही शब्द की पुनरुक्ति होती है, पर वहाँ अर्थ एक रहते हुए भी तात्पर्य का अंतर रहता है। प्रस्तुत चौपाई में 'पंच' शब्द के साथ वैसी बात नहीं है। यमक अलंकार में भी शब्द की आवृत्ति देखी जाती है, पर अर्थ भिन्न रहता है। इस प्रकार यहाँ 'पंच' शब्द का 'पाँच' अर्थ लेना ही समीचीन है।

(2) 'पंच' का 'निर्णायक' अर्थ लेने पर यहाँ कई पद निरर्थक हो जाते हैं। वैसी स्थिति में 'चौपाई' शब्द का कोई विशेषण नहीं रह जायगा। तब, इस अर्धाली में उसकी क्या सार्थकता होगी? इस अर्धाली में 'जानि' पद बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसका अर्थ है 'जानकर', 'अनुभव कर' और यह 'जो नर' के साथ संयुक्त है। 'पंच' शब्द का अर्थ यदि 'निर्णायक' है तो फिर 'जानि' पद तो सर्वथा निरर्थक ही हो जाता है।

(3) किसी काव्य-पंक्ति का अर्थ निर्धारित करते समय कवि की प्रवृत्ति को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। देखा जाय कि तुलसीदास की क्या प्रवृत्ति है। उनकी प्रवृत्ति गूढ़ तत्त्व को छिपाने या रहस्यमय बना देने की नहीं थी। उनका विश्वास तो यह था–

---

1. ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।

गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिँ।
आरत अधिकारी जहँ पावहिँ।।[1]

[संत लोग जहाँ आर्त अधिकारी पाते हैं, वहाँ गूढ़ तत्त्व भी उससे नहीं छिपाते।]

अब सोचने की बात है कि ऐसा विश्वास लेकर चलनेवाले तुलसीदास फलश्रुति को इतना रहस्यमय क्यों बना देंगे। 'पंच' शब्द का अर्थ 'निर्णायक' मान लेने से दो तथ्य उलझ जाते हैं। पहला तो यही कि तुलसीदास के वे अभीष्ट 'पंच' **रामचरितमानस** में कौन हैं और दूसरा कि उन पंचों के द्वारा निर्धारित चौपाइयाँ कहाँ और कितनी हैं। इन तथ्यों की खोज में तथाकथित पंडितों और प्रवचनकर्ताओं ने बड़ा मानसिक व्यायाम किया है और ऐसे समाधान दिये हैं जो ज्ञानवर्धक तो नहीं, मनोरंजक अवश्य हैं।

(4) यदि ऐसा समझा जाता है कि 'सतपंच चौपाई' से स्वयं तुलसीदास को ही कुछ विशेष चौपाइयाँ अभीष्ट हैं तब तो इससे यह अर्थ निकलेगा कि वे शेष चौपाइयों को महत्त्वहीन समझते हैं। पर, क्या ऐसा हो सकता है कि कोई कवि किसी कृति में अंश विशेष को सारगर्भ और शेष को निस्सार समझे? पाठक की दृष्टि से भी यही कहा जायगा कि **रामचरितमानस** की सभी चौपाइयाँ एक पर एक हैं, उनमें से किसी को महत्त्वपूर्ण और किसी को महत्त्वहीन कहना कठिन है।

इन कारणों से यहाँ 'पंच' शब्द का अर्थ 'निर्णायक' मानना उचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ उसका अर्थ 'पाँच' ही है। अब यह विचारणीय है कि 'सत' और 'पंच' का अलग-अलग अर्थ लिया जाय अथवा दोनों का सम्मिलित अर्थ ग्रहण किया जाय। दोनों शब्दों का अर्थ अलग-अलग लेने पर कई विकल्प बनते हैं – (1) सत + पंच, (2) सत x पंच, और 'सत' पर 'पंच', जैसे 75 या 1005। और, फिर वही समस्या खड़ी हो जायगी कि इन तीन विकल्पों में से तुलसीदास का अभीष्ट कौन-सा है।

---

1. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, प्रथम संस्करण, 1962 ई. 1/109/2, पृ. 47।

तुलसीदास-जैसे कवि से यह आशा नहीं की जाती है कि वे अपने मंतव्य को पहेली बनाकर पाठकों के सामने प्रस्तुत करेंगे। निश्चय ही तुलसीदास ने 'सत' और 'पंच' को एक संयुक्त शब्द के रूप में ही यहाँ रखा है। 'जानि' पद पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'जानि' का शाब्दिक अर्थ तो है 'जानकर' किंतु कवि का यहाँ अभिप्राय है 'अनुभव कर'। इन दोनों में कोई विरोध भी नहीं है। 'जानना' और 'अनुभव करना' प्रायः समानार्थी है। यह पूर्वकालिक क्रिया है। पूर्वकालिक क्रिया का सम्बंध कर्ता से होता है। कर्ता जब एक कार्य को समाप्त करने के पश्चात् दूसरा कार्य आरम्भ करता है तब पूर्वकालिक क्रिया बनती है, जैसे राम पढ़कर सोता है। राम पहले पढ़ने का काम पूरा कर लेता है, फिर वह सोने की क्रिया करता है। यहाँ 'पढ़कर' को पूर्वकालिक क्रिया कहा जायगा। उसी तरह संदर्भगत चौपाई की पहली अर्धाली में 'जानि' पद पूर्वकालिक क्रिया है जिसका कर्ता है 'जो नर'। तुलसीदास व्यक्ति को **रामचरितमानस** से कहीं की सात-पाँच चौपाइयाँ, जो उसे मनोहर प्रतीत हों, उन्हें हृदय में धारण करने की सलाह देते हैं। यही स्वाभाविक है और फलश्रुति के सर्वथा अनुकूल है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'सत पंच' का यही अर्थ लेते हैं – "पर तुलसीदास का तात्पर्य यहाँ 7-5 अर्थात् कुछ से ही है।"[1] इस सम्बंध में अद्यतन मत डॉ. सभापति मिश्र का है। वे लिखते हैं – "इसका तात्पर्य यह होता है कि जो मनुष्य (पूर्वकथित) सत्य सभी मनोहर चौपाईयों को जान (दृढ़ निश्चय) करके हृदय में धारण करेगा तो उनके अत्यंत कठिन पाँचों (अथवा सभी) प्रकार के अविद्या से उत्पन्न विकार को भगवान् श्री राम हरण कर लेंगे (अथवा दूर कर देंगे)।"[2] इस मंतव्य के सम्बंध में निम्नांकित बातें हैं –

---

1. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, **गोसाईं तुलसीदास** (वाराणसी, 2022 वि.), पृ. 230।
2. **नागरी पत्रिका** (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी), वर्ष 48, अंक 5, अगस्त 2015-सितम्बर 2015, पृ. 60।

(1) यहाँ 'सत पंच' में 'सत' शब्द का अर्थ 'सत्य' और 'पंच' का अर्थ 'सभी' ग्रहण किया गया है।

'सत' शब्द को 'सत्य' का अपभ्रंश मानकर कोशकारों ने 'सात' और 'सौ' के साथ-साथ इसका एक अर्थ 'सत्य' भी माना है अवश्य, पर 'सत' शब्द का यह अत्यंत गौण अर्थ है। संस्कृत का 'सप्त' ही प्राकृत में 'सत्त' विशेषण बना जिसका वहाँ एकमात्र अर्थ है 'सात'।[1] यही 'सत्त' हिंदी और उसकी बोलियों में 'सात' के रूप में प्रचलित है। **तुलसी-शब्दसागर** में 'सत' के क्रमशः 'सात', 'सौ' और 'सत्य', ये तीनों अर्थ दिये गये हैं जिनमें दो कारणों से 'सात' की प्रधानता मालूम पड़ती है। प्रथम कारण तो यह है कि तीन अर्थों में से पहला स्थान 'सात' को ही दिया गया है। द्वितीय कारण यह कहा जा सकता है कि 'सत्य' के अर्थ में **रामचरितमानस** से कोई उदाहरण नहीं दिया गया है जबकि अन्य दो के उदाहरण वहाँ से दिये गये हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि **रामचरितमानस** में 'सत्य' के अर्थ में 'सत' का प्रयोग नहीं हुआ है। यदि ऐसी बात है तो फिर यहीं 'सत' का 'सत्य' अर्थ क्यों लिया जाय? **रामचरितमानस** में तुलसीदास को 'सत्य' से जहाँ 'सच' अर्थ अभीष्ट रहा है वहाँ शुद्ध तत्सम रूप 'सत्य' ही रखा है और ऐसे प्रयोग शताधिक हैं।[2] तात्पर्य यह है कि तुलसीदास को 'सत्य' का 'सत्य' रूप ही प्रिय है, उसका अपभ्रंश-रूप 'सत' नहीं। **मानस पर्याय कोश** में भी 'सत' का पर्याय 'सय' को माना गया है; 'सत्य' को नहीं।[3]

(2) डॉ. सभापति मिश्र ने 'पंच' शब्द का अर्थ 'सब' या 'सभी' लिया है। उन्होंने अपने मंतव्य के दो आधार बतलाये हैं। पहला तो यह कि उनके अनुसार "सब और सभी के स्थान पर 'पंच' शब्द का व्यवहार

---

1. डॉ. के.आर. चन्द्र, **संक्षिप्त प्राकृत-हिन्दी कोष**, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पुनर्मुद्रित द्वितीय संस्करण, 2011 ई.।
2. द्रष्टव्य : **मानस के तत्सम शब्द**, डॉ. गया प्रसाद शर्मा, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1986, पृ. 305।
3. द्रष्टव्य : **मानस पर्याय कोश**, डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, भारतीय पुस्तक परिषद्, नयी दिल्ली, 2010 ई. पृ. 201।

गोस्वामीजी की जन्मभूमि के आस-पास प्रायशः होता है।" और, दूसरा यह कि 'पंच' शब्द **रामचरितमानस** में सर्वत्र 'सब' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों आधारों पर विचार किया जाय।

जहाँ तक प्रथम आधार की बात है, तीन बातें कही जा सकती हैं। पहली बात, तुलसीदास की जन्मभूमि का निर्धारण तो अभी भी विवादास्पद ही बना हुआ है, अतः किसी एक को सत्य मानकर उसके आधार पर कोई निर्णय देना उचित नहीं। दूसरी बात, किसी स्थान पर आज प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली पाँच-छह सौ वर्ष पूर्व भी आधुनिक अर्थ और स्वरूप में ही प्रचलित रही होगी, ऐसा नहीं माना जा सकता। भाषा सतत विकसित होती रहनेवाली चीज है। तीसरी बात, डॉ. मिश्र ने तुलसीदास की तथाकथित जन्मभूमि की आधुनिक बोली से जो उदाहरण दिये हैं, वे निर्भ्रान्त नहीं हैं। वे उदाहरण इस प्रकार हैं –

हिंदी (खड़ी बोली)	**बुंदेल खंडी**
हम सब तो ऐसा करते नहीं।	हम पंच तो अस करित नहीं।
हम सबकी तो ऐसी राय है।	हम पंचन की तो अस राय हो।

बुंदेलखंडी के उपर्युक्त दोनों वाक्यों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी विवाद के प्रसंग में ही वैसा बोला जाता है और वैसा प्रयोग हिंदी की प्रायः सभी बोलियों में होता है। दोनों वाक्यों में 'पंच' शब्द का जितना संगत अर्थ 'सब' है उससे अधिक संगत अर्थ 'निर्णायक' है। जहाँ 'पंच' या 'पंचन' का अर्थ 'सब' और 'सभी' होता है वहाँ उसे भाषाविज्ञान की भाषा में 'पंच' (निर्णायक) शब्द का अर्थ-विस्तार (Extention of meaning) कहा जायगा। जब पंचायत पद्धति आरम्भ हुई होगी तब पंचों की संख्या पाँच रहती होगी। इसीलिए 'पंच' शब्द का अर्थ भी 'पाँच' हो गया और फिर पंचों की संख्या चाहे जितनी हो पंचायत के सारे सदस्य 'पंच' कहलाने लगे और इसीलिए यथास्थान 'पंच' शब्द का अर्थ 'सब' हुआ। सच तो यह है कि वैसे स्थानों पर भी 'पंच' शब्द का अर्थ 'सब' की अपेक्षा 'अधिक' ग्रहण करना ही समीचीन है। ऊपर उद्धृत बुंदेलखंडी के दोनों वाक्यों पर इसे लागू करके देखा जा सकता है।

अब, डॉ. मिश्र द्वारा उद्धृत **रामचरितमानस** के पाँच अवतरणों में प्रयुक्त 'पंच' एवं उसके विभिन्न रूपों के अर्थ पर विचार किया जाय। पहला अवतरण इस प्रकार है –

पंच कहें सिव सती बिबाही।
पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही।। (1/78/8)

[पहले पंचों के कहने से शिव ने सती से विवाह किया था, परंतु फिर उसे त्यागकर मरवा डाला। – गीताप्रेस संस्करण की टीका]। डॉ. मिश्र के अनुसार उपुर्यक्त चौपाई में 'पंच' शब्द का अर्थ 'सभी' और 'सब' है किंतु गीताप्रेस की टीका में 'पंच' शब्द का जैसा प्रयोग हुआ है, उससे वहाँ उसका अर्थ 'सब' की अपेक्षा 'मान्य जन' अधिक सटीक प्रतीत होता है। हिंदी की कतिपय बोलियों में 'पंच' शब्द का प्रयोग 'मान्य जन' के अर्थ में होता भी है। **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर**[1] में 'पाँच' शब्द का एक अर्थ 'जाति या समाज के मुखिया लोग' दिया भी गया है जिसका अभिप्राय 'मान्य जन' ही है। इसी कोश में 'पाँच' शब्द का एक अर्थ 'कई एक आदमी' और 'बहुत-से लोग' भी दिया गया है। इस अर्थ में भी 'पंच' शब्द का प्रयोग बोलियों में होता है। 'पंच' शब्द का 'सब' और 'सभी' अर्थ कोई कोश स्वीकार नहीं करता। डॉ. मिश्र द्वारा उद्धृत दूसरा अवतरण नीचे दिया जा रहा है –

जौं पाँचहि मत लागइ नीका।
करहु हरषि हिय रामहि टीका।। (2/4/4)

[यदि पंचों को (आप सबको) यह मत अच्छा लगे, तो हृदय में हर्षित होकर आप लोग श्री रामचंद्र का राजतिलक कीजिए। –गीताप्रेस संस्करण की टीका]। इस चौपाई में भी 'पाँचहि' का अर्थ 'पंचों को', 'मान्य जनों को' लेना अधिक उपयुक्त है। यहाँ 'सब' और 'सभी' अर्थ तो किसी तरह नहीं बैठता है। गीताप्रेस की टीका में भी कोष्ठक में 'आप सबको'

---

1. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।

देकर भ्रांति ही बढ़ायी गयी है। यदि कवि को 'आप सबको' अभीष्ट होता तो वह 'पाँचहि' का प्रयोग ही नहीं करता। डॉ. मिश्र का तीसरा उदाहरण निम्नांकित है—

मोरि बात सब बिधिहिँ बनाई।
प्रजा पाँच कत करहु सहाई।। (2/178/8)

[मेरी सब बात तो विधाता ने ही बना दी है, (फिर) उसमें प्रजा और पंच (आपलोग) क्यों सहायता कर रहे हैं? — गीताप्रेस संस्करण की टीका]। यहाँ 'पाँच' का अर्थ 'माननीय' और 'प्रजा' का अर्थ 'जन' या 'लोग' है। सम्पूर्ण अर्धाली का अर्थ इस प्रकार होगा— आप माननीय लोग क्यों सहायता कर रहे हैं? डॉ. मिश्र द्वारा उद्धृत चौथी चौपाई निम्नलिखित है—

तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी।
आयसु आसिष देहु सुबानी।। (2/181/7)

[आप पंच (सब) लोग भी इसी में मेरा कल्याण मानकर सुंदर वाणी से आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए...। — गीताप्रेस संस्करण की टीका]। प्रसंग पर ध्यान दिया जाय। भरत जी के समक्ष वसिष्ठ मुनि और उनकी माताओं के साथ प्रजा की भारी भीड़ खड़ी है। उसी भीड़ को सम्बोधित कर वे कह रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में लोग बोलते ही हैं कि आप में से पाँच आदमी की जैसी आज्ञा होगी, वैसा करूँगा। ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं होता है कि भीड़ में से गिनकर किन्हीं पाँच का मत लिया जाता है। ऐसा कहने का यही अभिप्राय होता है कि सामने उपस्थित जनसमूह में जो कुछ मान्य जन हैं, वे जैसा कह दें। इस प्रकार यहाँ भी 'पाँच' का सटीक अर्थ 'मान्य जन' ही है। डॉ. सभापति मिश्र जी ने जो पाँचवाँ उदाहरण दिया है, उसे देखा जाय—

रामु सनेह सकोच बस कह ससोच सुरराजु।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहि त भयेउ अकाजु।। (2/293)

[देवराज इंद्र सोच में भरकर कहने लगे कि श्री रामचंद्र जी तो स्नेह और संकोच के वश में हैं। इसलिए सब लोग मिलकर कुछ प्रपंच (माया) रचो; नहीं तो काम बिगड़ा ही समझो) –गीताप्रेस संस्करण की टीका]। इसी टीका के आधार पर मिश्र जी ने 'पंच' का अर्थ 'संब' ले लिया है। वस्तुतः यहाँ भी 'पंच' शब्द का अर्थ तो 'पाँच' ही है किंतु उसका अभिप्राय है 'कुछ'। इस प्रकार डॉ. मिश्र ने जो 'पंच' शब्द का 'सब' अर्थ ग्रहण किया है वह स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होता। तुलसीदास ने 'पंच' शब्द का प्रयोग 'मान्य जन' और 'पाँच' (कुछ) के अर्थ में किया है। **रामचरितमानस** में अनेकत्र 'पंच' शब्द के ऐसे प्रयोग हैं जहाँ 'पाँच' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ लेना किसी भी तरह सम्भव नहीं है, जैसे – पंच कवलि करि जेवन लागे (1/328/1)। प्रसंग यह है कि जनकपुर में बरातियों को भोजन कराया जा रहा है। कहा जा रहा है कि बराती लोगों ने पंच कवल करके भोजन करना आरम्भ कर दिया। भोजन आरम्भ करने के पहले पाँच ग्रास भोज्य पदार्थ थाली से बाहर निकाल देना पंच कवल कहा जाता है। पाँच ही कौर निकालने का विधान है, न अधिक न कम। अतः यहाँ 'पंच' का 'पाँच' (5) के अतिरिक्त और कोई अर्थ लेना सम्भव ही नहीं है। इसी तरह "पंच सबद धुनि मंगल गाना" (1/318/3) में 'पंच सबद' का अर्थ है "तंत्री, ताल, झाँझ, नगारा और तुरही इन पाँच प्रकार के बाजों का शब्द" और 'पंच धुनि' का अर्थ है "वेदध्वनि, वन्दिध्वनि, जयध्वनि, शंखध्वनि और हुलूध्वनि"। यहाँ भी 'सबद' और 'धुनि' के विशेषण-रूप में 'पंच' का 'पाँच' (Five) के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ सम्भव नहीं है। इस अर्धाली में भी 'पंच' का अर्थ 'पाँच' (5) ही हो सकता है, और कुछ नहीं – "बिकट बेष मुख पंच पुरारी" (1/219/7)। यहाँ शिव के सम्बंध में कहा जा रहा है कि उनके पाँच मुख हैं। इस प्रकार के उदाहरण प्रचुर हैं।

अब विचारणीय है कि 'सत' और 'पंच' को मिलाकर अर्थ लिया जाय अथवा अलग-अलग। दोनों का अलग-अलग अर्थ ग्रहण करने से ही गड़बड़ी हुई है। ये दोनों मिलकर एक संख्यावाचक मुहावरे का निर्माण करते हैं– सात-पाँच अर्थात् कुछ। इस तरह के मुहावरे बोलचाल और

साहित्य में बहुत प्रचलित हैं, जैसे दो-एक, दो-चार, पाँच-सात, आठ-दस आदि। इन मुहावरों से संख्या की अनिश्चितता और अल्पता की व्यंजना होती है और ये विशेषण का कार्य करते हैं। विवेच्य प्रसंग में 'सत पंच' मुहावरा 'चौपाई' पद का विशेषण है। **रामचरितमानस** में इस प्रकार के मुहावरे प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं–

(1) **कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा।**
भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा।। (2/204/2)

[...और दस-पाँच मिलकर आपस में कहते हैं कि भरत जी का प्रेम और शील पवित्र और सच्चा है। – गीताप्रेस संस्करण की टीका]।

(2) **लघु जीवन संबत पंचदसा।**
कलपांत न नास गुमान असा।। (7/101/4)

[**दस-पाँच** वर्ष का थोड़ा-सा जीवन है, परंतु घमंड ऐसा है मानो कल्पांत (प्रलय) होने पर भी उनका नाश नहीं होगा। – गीताप्रेस संस्करण की टीका]। यहाँ 'पंच' का अर्थ है 'पाँच' और 'दसा' का अर्थ है 'दस'। इन दोनों के योग से मुहावरा बना 'पाँच-दस' जिसका अर्थ है 'अल्प' या 'थोड़ा'।

(3) **बालसखा सुनि हिय हरषाहीं।**
मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं।। (2/23/2)

[श्री रामचंद्र जी के बालसखा राजतिलक का समाचार सुनकर हृदय में हर्षित होते हैं। वे **दस-पाँच** मिलकर श्री रामचंद्र जी के पास जाते हैं। – गीताप्रेस संस्करण की टीका]।

(4) **सैल सुलक्षन सुता तुम्हारी।**
सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी।। (1/66/7)

[हिमालय के पूछने पर उनकी कन्या पार्वती के लक्षण बतलाते हुए नारद मुनि कह रहे हैं – "हे पर्वतराज, तुम्हारी कन्या सुलक्षणी है। अब इसमें

जो **दो-चार** अवगुण हैं, उन्हें भी सुन लो।" – गीताप्रेस संस्करण की टीका]। उपर्युक्त प्रयोगों को देखते हुए यही कहा जायगा कि संख्यावाचक मुहावरों का प्रयोग तुलसीदास की भाषिक प्रवृत्ति है।

अतएव विवेच्य चौपाई में 'सत पंच' को एक शब्द-युग्म अर्थात् एक संख्यावाचक मुहावरा ('सात-पाँच' यानी 'कुछ') मानकर अर्थ करना ही सब प्रकार से उपयुक्त है। तुलसीदास यहाँ पाठकों पर ही छोड़ देते हैं कि उन्हें **जो भी** (सात-पाँच अर्थात् कुछ) चौपाइयाँ मनोहर जान पड़ें, उनको हृदय में धारण करें। तुलसीदास पाठकों की रुचि को जानने और माननेवाले सिद्ध कवि और समर्पित भक्त थे। वे पाठक के मनोविज्ञान को खूब समझते थे। वे जानते थे कि श्रद्धालु अथवा साहित्यिक पाठक जब इसको पढ़ेंगे तो स्वरुचि के अनुसार उन्हें विभिन्न चौपाइयाँ मनोहर प्रतीत होंगी। इसलिए उनकी रुचि में व्याघात उपस्थित न करके वे उन्हींपर चयन का भार सौंप देते हैं। यह बड़ी स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक फलश्रुति है। इसके लिए कवि की जितनी भी प्रशंसा की जायगी, वह सदा अपर्याप्त ही रहेगी।

इस स्थल पर एक अन्य भ्रांति का निराकरण कर लेना भी अप्रासांगिक नहीं कहा जायगा। कुछ लोग 'सत पंच चौपाई' से **रामचरितमानस** की कुल चौपाइयों की संख्या निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं। यह निम्नांकित कारणों से सर्वथा अमान्य है। प्रथम तो यह कि फलश्रुति विषयक जो छंद है, उसमें ये दो पंक्तियाँ आती हैं। फलश्रुति के प्रसंग में ग्रंथ की कुल छंद-संख्या बतलाने का कोई औचित्य नहीं है। द्वितीय, 'सत पंच' के आधार जितनी संख्याएँ निकाली गयी हैं, उतनी चौपाइयाँ पाठालोचन (Textual Criticism) की दृष्टि से प्रामाणिक माने जानेवाले किसी भी संस्करण में उपलब्ध नहीं हैं। तृतीय, यदि तुलसीदास को **रामचरितमानस** की कुल चौपाइयाँ बतलाना अभीष्ट होता तो वे निर्भ्रांत रूप में कहते, वे ऐसी शब्दावली का प्रयोग नहीं करते जिसके अनेक अर्थ सम्भव हों। चतुर्थ, 'सत पंच' से ग्रंथ की कुल छंद-संख्या का अर्थ ग्रहण करने पर इस चौपाई के अनेक पद निरर्थक हो जाते हैं। निष्कर्षतः, 'सत

पंच' को **रामचरितमानस** की कुल चौपाइयों का बोधक मानना उचित नहीं। आश्चर्य है कि डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने पाठालोचन की पद्धति पर इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है[1] जो सुलझने के बजाय और उलझ गया है।

(उत्तरार्ध)

प्रस्तुत प्रसंग में "सत पंच चौपाई" के अर्थ पर जितना मंथन हुआ है उतना "दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार" के अर्थ पर नहीं हुआ। पर, कवि की यह उक्ति भी कम गूढ़ नहीं है। सच पूछा जाय तो कवि ने यहाँ अपने दार्शनिक चिंतन का परिचय दिया है जिसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यहाँ तीन शब्द गम्भीर विमर्श की अपेक्षा रखते हैं। वे हैं 'अबिद्या', 'पंच' और 'बिकार'। अविद्या की चर्चा **श्रीमद्भागवत** के तृतीय स्कंध में तीन बार हुई है। प्रथम, दसवें अध्याय में ब्रह्मा के द्वारा की गयी दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि छठी सृष्टि अविद्या की है– "षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो"। वहाँ उसकी हिंदी-व्याख्या इस प्रकार दी गयी है– "छठी सृष्टि अविद्या की है। इसमें तामिस्र, अन्धतामिश्र, तम, मोह और महामोह– ये पाँच गाँठें हैं। यह जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करने वाली हैं।"[2] द्वितीय, बारहवें अध्याय में 'अज्ञान' नाम से इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है– "ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत। महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः।" इसकी हिंदी-व्याख्या इस प्रकार दी गयी है– "सबसे पहले उन्होंने अज्ञान की पाँच वृत्तियाँ – तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) रचीं।"[3] तृतीय, बीसवें अध्याय में अविद्या का परिचय देते हुए कहा गया–

---

1. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास (हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, सातवाँ संस्करण, 2005 ई.) पृ. 262-65।
2. श्रीमद्भागवत, प्रथम खंड, गीताप्रेस, गोरखपुर, सतहत्तरवाँ पुनर्मुद्रण, 2070 वि., पृ. 280।
3. उपरिवत्, पृ. 286।

ससर्जच्छाययाविद्यां पंचपर्वाणमग्रतः।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः।।[1]

[सबसे पहले उन्होंने अपनी छाया से तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह – यों पाँच प्रकार की अविद्या उत्पन्न की।]

निष्कर्षतः, **श्रीमद्भागवत** के अनुसार अविद्या के सम्बंध में कहा जा सकता है कि

(1) अविद्या अज्ञान है,

(2) अविद्या तम है,

(3) अविद्या पाँच प्रकार की हैं – तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह,

(4) अविद्या योगदर्शन का 'क्लेश' है जो पाँच प्रकार का होता है – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।[2]

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि **श्रीमद्भागवत** में अज्ञान के एक प्रकार विशेष तम (अविद्या) का सामान्यीकरण करके उससे मोह आदि सबका बोध करा दिया गया है। और, ऐसा ही तुलसीदास ने भी किया है।

प्रस्तुत प्रसंग गरुड़ और काकभुशुंडी-सम्वाद के अंतर्गत आया है। इस सम्वाद के अंतर्गत 'अविद्या' शब्द कई बार आया है। उन प्रयोगों पर विचार करने से छंद में आये हुए 'अविद्या' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। ऐसे प्रयोगों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोग इस प्रकार है –

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृतिमूल अबिद्या नासा।। (7/118/8)

[भक्ति करने से संसृति (जन्म-मृत्यु रूप संसार) की जड़ अविद्या विना ही यत्न और परिश्रम के (अपने-आप) वैसे ही नष्ट हो जाती है।] अविद्या को जन्ममृत्यु-रूप संसार का मूल बतलाने का स्पष्ट अर्थ है कि अविद्या

1. श्रीमद्भागवत, प्रथम खंड, गीताप्रेस, गोरखपुर, सतहत्तरवाँ पुनर्मुद्रण, 2070 वि., पृ. 331।
2. डॉ. चंद्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, 2004 ई., पृ. 160।

के कारण ही मनुष्य जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अविद्या' शब्द का प्रयोग तुलसीदास यहाँ योगदर्शन के 'क्लेश' के अर्थ में कर रहे हैं क्योंकि योगदर्शन मानता है कि कर्मों से क्लेश और क्लेशों से कर्म उत्पन्न होते रहते हैं।[1] योगदर्शन मानता है कि क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। 'अविद्या' का अर्थ है मिथ्या ज्ञान अथवा विपर्यय। अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि और दुःख को सुख समझना अविद्या का लक्षण है। कहना नहीं होगा कि सांसारिक जीव इस अविद्या नामक क्लेश से ग्रस्त रहता है। गरुड़-काकभुशुंडी-सम्वाद में आये हुए 'अविद्या' शब्द के सारे प्रयोग यही सिद्ध करते हैं कि तुलसीदास को 'अविद्या' शब्द से वही अविद्या अभिप्रेत है जो योगदर्शन में क्लेश का प्रथम प्रकार है। ऐसे कुछ प्रयोग निम्नांकित हैं –

(1) प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई।
हारहिँ सकल सलभ समुदाई।। (7/119/5)

(2) प्रबल अबिद्या कर परिवारा।
मोह आदि तम मिटै अपारा।। (7/117/3)

इन दोनों अवतरणों में अविद्या को तम अर्थात् अंधकार बतलाया गया है। अंधकार के कारण मनुष्य को मिथ्या ज्ञान होता है, वह रस्सी को सर्प समझ लेता है। एक अन्य स्थल पर तुलसीदास ने किंचित् विस्तार से अविद्या का वर्णन किया है जिससे अविद्या के साथ-साथ विकार की उनकी अवधारणा भी स्पष्ट हो जाती है –

जिन्हहिँ सोक ते कहौँ बखानी।
प्रथम अबिद्या निसा नसानी।।
अब उलूक जहँ तहाँ लुकाने।
काम क्रोध कैरव सकुचाने।।

1. डॉ. चंद्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, 2004 ई., पृ. 160।

मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।। (7/30/3-6)

[जिन-जिन को शोक हुआ, उन्हें मैं बखानकर कहता हूँ (सर्वत्र प्रकाश छा जाने से) पहले तो अविद्या-रूपी रात्रि नष्ट हो गयी। पाप-रूप उल्लू जहाँ-तहाँ छिप गये और कामक्रोधरूपी कुमुद मुँद गये। मत्सर (डाह), मान, मोह और मद रूपी जो चोर हैं, उनका हुनर (कला) भी किसी ओर नहीं चल पाता।]

इसका प्रसंग यह है कि लंका-विजय कर श्री राम अयोध्या लौट आये हैं। उनका राज्याभिषेक हो गया है। रामराज्य आरम्भ हो गया है। उसीका वर्णन काकभुशुंडी गरुड़ को सुना रहे हैं। वे कह रहे हैं कि रामप्रतापरूपी अत्यंत प्रचंड सूर्य के उदित होने से बहुतों को सुख और बहुतों को शोक हुआ है। जिन-जिन को शोक हुआ, पहले उन्हींका नाम गिनाते हुए काकभुशुंडी कहते हैं कि सर्वप्रथम तो अविद्यारूपी रात्रि नष्ट हो गयी। अविद्या मिथ्या ज्ञान है, वह रात्रि का अंधकार है जो मनुष्य को यथार्थ का ज्ञान नहीं होने देता। रामप्रतापरूपी सूर्य के उदित होने पर अविद्यारूपी रात्रि समाप्त हो गयी। रामराज्य में अविद्या कैसे रह सकती है? तुलसीदास ने योगदर्शन के 'क्लेश' के एक भेद 'अविद्या' का सामान्यीकरण कर उसे समग्र 'क्लेश' के बोधक के रूप में प्रस्तुत किया है। **रामचरितमानस** के प्रस्तुत प्रसंग में 'अविद्या' और 'क्लेश' पर्यायवाची हैं। चूँकि 'क्लेश' पाँच प्रकार के होते हैं, इसीलिए तुलसीदास 'अविद्या' को भी पाँच प्रकार का बतलाते हैं। 'पंच' शब्द यहाँ 'अविद्या' का विशेषण है, 'विकार' का नहीं। 'पंच' शब्द को विकार का विशेषण इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि विकारों के रूप में तुलसीदास ने यहाँ क्रम से छह नाम लिये हैं – काम, क्रोध, मत्सर, मान, मोह और मद। ऐसा कैसे हो सकता है कि तुलसीदास विकारों की संख्या तो बतलावें पाँच और उन विकारों का नाम लिखना हो तो लिख दें छह नाम? यह तो परस्पर विरोधी (Self-Contradictory) कथन हो जाता जिसकी तुलसीदास सरीखे सावधान कवि से आशा नहीं की जाती। उन्होंने कहीं भी जो कुछ कहा है, खूब सँभलकर कहा है।

यहाँ दो शंकाएँ की जा सकती हैं। प्रथम तो यह कि तुलसीदास यदि 'अविद्या' और 'क्लेश' को पर्यायवाची मानते हैं तो अविद्या से उत्पन्न होनेवाले विकारों की संख्या भी पाँच ही रखते क्योंकि क्लेश तो पाँच ही होते हैं और द्वितीय यह कि विकारों के नाम भी वे ही रखते जो योगदर्शन में क्लेश के प्रकार बतलाये गये हैं, यथा -- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। इन दोनों शंकाओं का समाधान इस प्रकार है। प्रथम शंका का समाधान यह है कि 'अविद्या' और 'क्लेश' की अवधारणा तो उन्होंने एक रखी अवश्य, पर क्लेश के प्रकार उन्होंने योगदर्शन का न लेकर अपना रखा। कारण, योगदर्शन-निर्दिष्ट क्लेश के रूपों से मनुष्य जितना कष्ट पाता है, उससे अधिक कष्ट वह उन विकारों या मनोविकारों से पाता है जो लोक में प्रचलित हैं। इसीलिए इन विकारों को षड्रिपु (छह शत्रु) कहा गया है। जहाँ तक नामों की बात है, अर्थात् दूसरी शंका है, उसका भी समाधान है। वह समाधान यह है कि जिस तरह तुलसीदास ने विकारों की संख्या वही रखी जो लोक में प्रचलित है, उसी प्रकार उन्होंने नाम भी वे ही रखे जो लोकप्रचलित हैं। यह सब प्रकार से उचित है।

अविद्या का स्वरूप स्पष्ट कर देने के बाद तुलसीदास काकभुशुंडी के द्वारा विकारों का परिचय दिलवाते हैं। वे कहते हैं कि काम-क्रोधरूपी कुमुद मुँद गये क्योंकि कुमुद रात्रि में ही खिलते हैं और अब अविद्यारूपी रात चली गयी है। अर्थात् अविद्या के नष्ट होने पर काम और क्रोध नामक मनोविकार का भी अस्तित्व नहीं रहता है। जिस तरह काम-क्रोध रूपी कुमुद मुरझा गये हैं उसी प्रकार मत्सर, मान, मोह और मद रूपी चोरों की कला भी कहीं कुछ काम नहीं करती। जिस प्रकार रात के बीत जाने पर चोरों का कुछ नहीं चलता, उसी प्रकार अविद्या के नष्ट हो जाने पर मत्सर, मान, मोह और मद – ये विकार मनुष्य का कुछ बिगाड़ नहीं पाते। स्पष्ट है कि तुलसीदास विकारों को अविद्याजनित मानते हैं। इसीलिए 'पंच' को अविद्या का विशेषण माना जायगा, विकार का नहीं। अविद्या-निशा का जो रूपक बाँधा गया है, उसमें काम, क्रोध, मत्सर, मान, मोह और मद – इन छह विकारों को अविद्या पर ही आधृत बतलाया गया है।

अर्थात् तुलसीदास यह मानते प्रतीत होते हैं कि इन विकारों का हेतु अविद्या है।

(निष्कर्ष)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विवेच्य पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है – **जो व्यक्ति मनोहर प्रतीत होनेवाली सात-पाँच अर्थात् कुछ चौपाइयों को हृदय में धारण करता है, श्री रामचंद्र पाँच घोर अविद्याओं से उत्पन्न उसके विकारों को हर लेते हैं।** इससे निम्नांकित विचार-बिंदु स्पष्ट होते हैं –

(1) यह फलश्रुति है। इसे **रामचरितमानस** की कुल छंद-संख्या के निर्देश के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं है।

(2) तुलसीदास अपना विचार पाठकों और श्रद्धालुओं पर नहीं लादते हैं। वे पाठकों पर ही छोड़ देते हैं कि कहीं की और कुछ भी चौपाइयाँ जो उन्हें अच्छी लगें। यह बड़ा मनोवैज्ञानिक है। ऐसा कहकर तुलसीदास इस बात का परिचय दे रहे हैं कि वे सिद्ध सारस्वत कवि के साथ-साथ उदारमना महात्मा भी थे।

13

मसीत को सोइबो

तुलसीदास का यह कथन **कवितावली** के उत्तरकांड के एक सौ छठे छंद में आया है। पूरा सवैया इस प्रकार है –

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगिकै खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ।।[1]

यहाँ दो पदों के अर्थ विचारणीय हैं – 'मसीत' और 'सोइबो'। **तुलसी-ग्रंथावली** के सम्पादकों ने 'मसीत' का अर्थ 'मसजिद' लिखा है। **तुलसी-शब्दसागर**[2], **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर**[3] और **बृहत् हिंदी कोश**[4] इन तीनों में भी इस शब्द का यही अर्थ स्वीकार किया गया है। दूसरा पद है 'सोइबो'। **तुलसी-शब्द सागर** में इसके दो अर्थ दिये गये हैं – 'सोना' और 'सोओगे'। इनमें से प्रथम तो क्रियार्थक संज्ञा है और द्वितीय सामान्य भविष्यत् काल में मध्यम पुरुष की क्रिया है। इनमें से प्रथम अर्थ तो ग्राह्य हो भी सकता है, किंतु द्वितीय तो किसी भी प्रकार स्वीकरणीय नहीं हो सकता। यहाँ तुलसीदास अपने लिए कह रहे हैं, इसलिए क्रिया-पद का

---

1. **तुलसी-ग्रंथावली**, दूसरा खंड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण 2015 वि., पृ. 187।
2. सम्पादक : भोलानाथ तिवारी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2009।
3. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।
4. ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।

रूप तो उत्तम पुरुष में ही रहेगा, मध्यम पुरुष में नहीं। डॉ. अम्बा प्रसाद 'सुमन' ने इस शब्द का एक ही अर्थ स्वीकार किया है 'सोना' जो क्रियार्थक संज्ञा है।[1]

गीताप्रेस के संस्करण में सम्पूर्ण पंक्ति का अर्थ इस प्रकार दिया गया है – "मुझको तो माँग के खाना और मसजिद (देवालय) में सोना है, न किसी से एक लेना है, न दो देना है।"[2] डॉ. योगेंद्र प्रताप सिंह का अर्थ है – "माँगकर खाना तथा निश्चिंत होकर मस्जिद आदि धार्मिक स्थानों पर सो रहना, उसकी दिनचर्या है और उसका किसी से प्रयोजन नहीं है।"[3] दोनों में 'मसजिद' का लाक्षणिक अर्थ लिया गया है। किंतु यहाँ 'मसजिद' का लाक्षणिक अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है। अभिधेयार्थ में भी यह शब्द यहाँ पूर्णतः संगत है। सम्पूर्ण सवैये का जो स्वर है, उससे यही स्पष्ट होता है कि तुलसीदास उस ब्राह्मण-वर्ग को लक्ष्य कर कह रहे हैं जो उनको ब्राह्मण नहीं मानता था। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि हिंदू-समाज खासकर ब्राह्मण-समाज जिस स्थान को (मसजिद को) अपवित्र मानता है, मुझे वहाँ भी सोने में कोई हर्ज नहीं हो सकता है। ऐसा वे इसलिए कहते हैं कि वे तो जाति-पाँति से ऊपर उठ चुके थे।

यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'खैबो', 'सोइबो' जैसे पदों का अर्थ क्रियार्थक संज्ञा के रूप में लिया जाय अथवा क्रिया-पद के रूप में ग्रहण करना उचित है। ब्रजभाषा-व्याकरण के अनुसार इन पदों को क्रियार्थक संज्ञा मानना ही उचित है। ब्रजभाषा के कवियों ने धातु में प्रायः 'ब', 'इबे', 'बे', 'इबैं', 'बैं', इबौ' जोड़कर क्रियार्थक संज्ञा पदों का निर्माण किया है।[4]

---

1. डॉ. अम्बा प्रसाद 'सुमन', **कवितावली पदकोश**, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, प्रथम संस्करण, 2001 ई.।
2. **कवितावली**, गीताप्रेस, गोरखपुर, पैंतालीसवाँ पुनर्मुद्रण, 2061 वि.।
3. डॉ. योगेंद्र प्रताप सिंह, **कवितावली** (इलाहाबाद, 2002 ई.), पृ. 231।
4. डॉ. प्रेमनारायण टंडन, **ब्रजभाषा-व्याकरण की रूपरेखा**, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 1962 ई., पृ. 160-61।

इस प्रकार प्रस्तुत सवैये के अंतिम दो चरणों का अर्थ होगा – "मैं तो राम का गुलाम हूँ, जिसको जो अच्छा लगे वही कहे, मुझे तो माँगकर खाना, मसजिद में सोना, न एक लेना न दो देना है।" ऐसा कहकर तुलसीदास समाज और संसार से अपनी अनासक्ति का प्रदर्शन कर रहे हैं। सचमुच जो राम का गुलाम है, उसको कोई ब्राह्मण माने या न माने, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। कुछ लोग 'मसीत' का 'देवालय' अथवा 'धार्मिक स्थान' लेकर तुलसीदास का बचाव करना चाहते हैं। पर, तुलसीदास को बचाव की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने जो कहा है, खूब सँभलकर कहा है। मसजिद में सोने की बात कहकर वे उस ब्राह्मण-वर्ग को फटकार रहे हैं जो उनको ब्राह्मण नहीं मानता था। यही बात माँगकर खाने के साथ भी है। अन्यत्र उन्होंने माँगकर खाने अर्थात् याचक वृत्ति को निंदनीय बतलाया। वे कहना चाहते हैं कि जब जाति-कुजाति सभी 'मंगता' (याचक) हो ही चुके हैं तो मैं भी माँगकर खा सकता हूँ। संसार से अपनी निर्लिप्तता के विषय में तुलसीदास इससे अधिक क्या कह सकते थे?

इस प्रकार यहाँ विवाद की कोई गुंजाइश नहीं है। फिर भी, इस पर विचार करने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि कुछ दुराग्रही लोग 'सोइबो' को क्रिया-पद मानकर सामान्य वर्तमान काल उत्तम पुरुष एकवचन में इसका अर्थ लेते हैं 'सोता हूँ' और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तुलसीदास मसजिद में सोते थे। यह सर्वथा दुराग्रह है।

14

जायो कुल मंगन

तुलसीदास ने अपनी जाति के सम्बंध में स्पष्ट रूप से यदि कुछ कहा है तो वह है **कवितावली** के उत्तरकांड का तेहत्तरवाँ छंद जिसकी सम्बद्ध पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

> **जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,**
> **भयो परिताप पाप जननी जनक को।**[1]

अर्थात् वे यह स्पष्ट कहते हैं कि मंगन-कुल में उनका जन्म हुआ। अतः 'मंगन' शब्द का अर्थ विचारणीय हो जाता है।

अवधी के कोश में इसका अर्थ 'भिखमंगा' बतलाया गया है और इसे इस रूप में लिखा गया है – 'मङ्ङन'।[2] यह वर्तनी उच्चारण के अनुसार रखी गयी है जो सर्वथा उचित है। **तुलसी-शब्दसागर** में इसे संस्कृत 'मार्गण' से व्युत्पन्न माना गया है और इसके ये अर्थ दिये गये हैं– माँगनेवाला, दरिद्री, भिखारी तथा उदाहरण-स्वरूप **कवितावली** की विवेच्य पंक्ति को ही उद्धृत किया गया है।[3] **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर**[4] इस शब्द का अर्थ 'भिक्षुक' और **बृहत् हिंदी कोश**[5] 'भिखमंगा', 'याचक' लिखता है। डॉ. अम्बा प्रसाद 'सुमन' ने अपने **कवितावली पदकोश** में इस शब्द को स्थान देने की आवश्यकता ही नहीं समझी है। निष्कर्षतः, सभी प्रमुख शब्दकोश 'मंगन' शब्द का अर्थ 'भिखमंगा' बतला रहे हैं। 'मंगन' का

---

1. **तुलसी-ग्रंथावली**, दूसरा खंड (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2015 वि.), पृ. 180।
2. रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', **अवधी-कोष** (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1955)।
3. सम्पादक : भोलानाथ तिवारी (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2009)।
4. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एकादश संस्करण, 2054 वि.।
5. ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि.।

शाब्दिक अर्थ तो 'भिखमंगा' ही है किंतु ब्राह्मणों की याचक-वृत्ति होने के कारण यहाँ इसका 'ब्राह्मण' अर्थ लेना बहुत असंगत नहीं कहा जा सकता।

कुल लोग 'मंगन' शब्द से इनकी पारिवारिक विपन्नता का संकेत ग्रहण करते हैं। आगे की पंक्तियों से इस भ्रम की पुष्टि भी होती है –

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।।[1]

ध्यातव्य है कि 'बारे तें' पर ध्यान नहीं देने के कारण ही यह भ्रम हो रहा है। 'बारे तें' का अर्थ है 'बचपन से', न कि 'जन्म से'। इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि जिस परिवार में उनका जन्म हुआ, वह परिवार ही दरिद्र था। जन्म लेने के बाद माता के स्नेहांचल और पिता के स्नेहाश्रय से वंचित हो जाने के कारण उनकी दीन दशा शुरू हुई और यह बहुत बचपन से ही हो गयी। 'जायो कुल मंगन' से उनका एक मात्र अभिप्राय था कि वे ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए थे।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त[2] तुलसीदास के ब्राह्मण होने के सम्बंध में **कवितावली** के उत्तरकांड का ही छंद 102 प्रस्तुत करते हैं जो इस प्रकार है –

भागीरथी जलपान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
मोको न लेनो न देनो कछू, कलि! भूलि न रावरी ओर चितैहौं।।
जानिकै जोर करौ परिनाम, तुम्है पछितैहो पै मैं न भितैहौं।
ब्राह्मन ज्यौं उगिल्यौ उरगारि हौं त्योंही तिहारे हिये न हितैहौं।।[3]

---

1. तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2015 वि.), पृ. 180।
2. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास (हिंदी परिषद्, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, सातवाँ संस्करण पेपरबैक, 2005 ई.), पृ. 161-62।
3. तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2015 वि.), पृ. 187।

तुलसीदास कहते हैं कि मैं गंगाजल पीता हूँ और नित्य राम के दो नाम लेता हूँ। हे कलिकाल! मुझे तुमसे कुछ भी लेना-देना नहीं है और मैं भूलकर भी आपकी ओर नहीं देखूँगा। यदि तुम जान-बूझकर मेरे साथ जोर करोगे तो परिणाम में तुम्हीं पछताओगे, मैं नहीं डरूँगा। जिस तरह गरुड़ ने ब्राह्मण को उगल दिया, उसी तरह मैं भी तुम्हारे पेट में नहीं पचूँगा। कथा है कि एक समय गरुड़ धोखे से एक ब्राह्मण को निगल गया। इससे उसके पेट में जलन होने लगी और उसे ब्राह्मण को उगल देना पड़ा। इस छंद के अंतिम चरण का यह अर्थ लगाया जाता है तुलसीदास कलि को डरा रहे हैं कि मैं भी ब्राह्मण होने के कारण तुम्हारे पेट में पचूँगा नहीं, तुम मुझे ग्रस भी लोगे तो उगलना पड़ जायगा। इस उक्ति को उनके ब्राह्मण होने का प्रमाण मानना बहुत असंगत नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास के ब्राह्मण होने के सम्बंध में अंतस्साक्ष्य से ये ही दो प्रमाण प्राप्त होते हैं।

इस स्थल पर तुलसीदास के ब्राह्मण होने के सम्बंध में उनकी जो दो अन्य उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं, उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसी एक पंक्ति तो **कवितावली** के उत्तरकांड के तेंतीसवें छंद की है जिसके अर्थ को नहीं समझने के कारण यह मान लिया जाता है कि तुलसीदास अपने विषय में कह रहे हैं। अतः उस छंद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसे यहाँ पूरा उद्धृत किया जा रहा है

भलि भारत भूमि भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा बरषा, हिम मारुत घाम सदा सहि कै।।
जो भजै भगबान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै।
नतु और सबै बिष बीज बये हर-हाटक कामदुहा नहि कै।।

इस छंद के चारों चरणों के अंत में जो चार पद हैं – 'लहि कै', 'सहि कै', 'गहि कै' और 'नहि कै' – ये सब पूर्वकालिक क्रिया-पद हैं किंतु टीकाकारों ने इसका अर्थ वर्तमान काल और उत्तम पुरुष में ग्रहण किया है। इस छंद का सही अर्थ इस प्रकार है –

भारत-सदृश भले देश के भले परिवार में जन्म पाकर, भला समाज और भला शरीर प्राप्त करके, क्रोध को छोड़कर भीषण वर्षा, भयंकर ठंढ एवं धूप को सहन कर जो चातक के समान हठपूर्वक भगवान् को भजता है वही सयान अर्थात् चतुर है, नहीं तो सब सोने के हल में कामधेनु को जोतकर विष का बीज बोते हैं।

यहाँ तो तुलसीदास अपने विषय में कह नहीं रहे हैं! वे तो जनसामान्य के विषय में कह रहे हैं। उनके कहने का निचोड़ है कि यदि किसी को जन्मना सांसारिक सम्पदा प्राप्त हो गयी किंतु उसने भगवान् का निष्ठापूर्वक निरंतर भजन नहीं किया तो उसका जीवन व्यर्थ है। अतः इस छंद के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि तुलसीदास का जन्म भले कुल अर्थात् ब्राह्मण-कुल में हुआ था।

दूसरी उक्ति भी ऐसी ही है जो **विनयपत्रिका** के 135वें पद में आयी है। उक्त पद इस प्रकार है –

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहिं दियो।।
दियो सुकुल जनम, सरीर सुंदर, हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद, पावत पुरारि-मुरारि को।।
यह भरतखंड, समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर! कलप-बल्ली चहति है बिष फल फली।।[1]

नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में अंतिम चरण का पाठ इस प्रकार है – "तेरी कुमति **बायर** कलपबल्ली चहति बिषफल फली।।[2] वियोगी हरि के संस्करण[3] में भी गीताप्रेस संस्करण का ही पाठ है। **तुलसी-शब्दसागर** (डॉ. भोलानाथ तिवारी) में 'बायर' शब्द नहीं है जिससे ऐसी शंका होती है कि 'बायर' मुद्रण की भूल तो नहीं है।

---

1. **विनय-पत्रिका**, गीताप्रेस, गोरखपुर, छब्बीसवाँ संस्करण 2035 वि., पृ. 208-9।
2. **तुलसी-ग्रंथावली**, दूसरा खंड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2015 वि., पृ. 436।
3. वियोगी हरि, **विनय-पत्रिका**, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली, 2008 ई., पृ. 219।

जो हो, इस पद के अर्थ पर विचार किया जाय। कवि जनसामान्य को सम्बोधित कर कहता है – जिन श्री राम ने तुझे देवताओं को भी दुर्लभ शरीर दिया, सुंदर कुल में जन्म दिया, चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को प्राप्त करने में समर्थ, ऐसा सुंदर शरीर दिया जिसको पाकर ज्ञानी जन शिव और विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेते हैं, भारतवर्ष-जैसे देश में तुम निवास करते हो जहाँ देवनदी गंगा हैं, जहाँ रमणीक भूमि है, जहाँ सत्संग की सुविधा है किंतु तुमने उन्हीं श्री राम के भक्त से स्नेह नहीं किया। हे कायर! तेरी कुबुद्धि-रूपी कल्पलता विष का फल फलना चाहती है!

यहाँ कैसे कहा जायगा कि तुलसीदास ने 'दियो सुकुल जनम' से अपने सुंदर कुल में जन्म लेने का संकेत किया है? वे तो यहाँ जनसामान्य को रामभक्ति का उपदेश दे रहे हैं। पद के प्रथम चरण में ही 'तैं' सम्बोधन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सारी बातें तुलसीदास ने अपने लिए नहीं, वरन् सम्बोधित व्यक्ति के लिए कही हैं। अंतिम चरण का 'तेरी' शब्द इसको पुष्ट कर रहा है। निष्कर्षतः, तुलसीदास की जाति के निर्धारण में यह पद विचारणीय नहीं है।

तुलसीदास के कथनों से इतना ही विदित होता है कि वे ब्राह्मण थे। तुलसीदास पर सर्वाधिक शोध करनेवाले विद्वान् हैं डॉ. माताप्रसाद गुप्त और उन्होंने भी तुलसीदास को ब्राह्मण माना है।[1] तुलसीदास कौन ब्राह्मण थे, यह उनके कथनों से स्पष्ट नहीं होता। इस सम्बंध में तीन मत सामने आये हैं – पहला कि वे कान्यकुब्ज थे, दूसरा कि वे सरयूपारीण थे और तीसरा कि वे सनाढ्य थे। इन तीनों के पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, वे दुर्बल और अविश्वसनीय हैं।

तुलसीदास कौन ब्राह्मण थे, इसका निर्णय करते हुए यह ध्यान में रखना अत्यावश्यक है कि लोग उनको ब्राह्मण नहीं मानते थे और इससे उनको खीझ होती थी। इसका प्रमाण **कवितावली** के उत्तरकांड का छंद 106 है। उक्त छंद इस प्रकार है –

---

1. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, हिंदी परिषद्, हिंदी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, सातवाँ संस्करण, 2005, पेपरबैक, पृ. 161।

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ।।[1]

इस छंद की शैली से स्पष्ट है कि विरोधियों को सम्बोधित कर कहा जा रहा है। वे कहते हैं कि तुम मुझको ब्राह्मण मानो या जो कुछ भी मानो, मेरा नाम तो तुलसी है और मैं राम का गुलाम हूँ, मुझे संसार से कुछ लेना-देना नहीं है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि "तुलसीदास का एक और प्रकार का विरोध उनकी जाति-पाँति के प्रश्न को लेकर हुआ था।"[2] यहाँ एक शंका होती है कि क्या केवल ब्राह्मण लोग ही उनको ब्राह्मण नहीं मानते थे या ब्राह्मण समेत अन्य जाति के लोग भी उनको ऐसा ही समझते थे। इसका समाधान सामान्य बुद्धि से ही हो जाता है। इनके ब्राह्मणत्व पर कोई ब्राह्मण ही न प्रश्न-चिह्न लगाता, अन्य जाति के लोगों को क्या गरज पड़ी थी कि वे इस पचड़े में पड़ते? जातिगत ईर्ष्या स्वजाति के लोगों में ही होती है। फिर, उस समय तो जातिगत सौमनस्य था। बीसवीं शताब्दी के अंत से तथाकथित समाजवादी एवं जाति-आधारित राजनीतिक पार्टियों के सत्ता में आ जाने के बाद जाति-संघर्ष (Caste Struggle) के नाम पर जातिगत घृणा (Caste-hatred) फैलायी जा रही है, यह स्थिति तो उस समय थी नहीं कि गैर-ब्राह्मण तुलसीदास का इसलिए विरोध करते कि वे ब्राह्मण थे। निस्संदेह, उनकी जाति-पाँति के प्रश्न को लेकर जो विरोध होता था, वह ब्राह्मण-वर्ग की ओर से होता था। रामदास गौड़ ने भी स्वीकार किया है कि "मतभेद के कारण उनसे [तुलसीदास से] काशी के ब्राह्मण घोर विरोध रखते थे।"[3]

---

1. **तुलसी-ग्रंथावली**, दूसरा खंड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण 2015 वि., पृ. 187।
2. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, **तुलसीदास**, हिंदी परिषद्, हिंदी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, सातवाँ संस्करण, 2005, पेपरबैक, पृ. 180।
3. रामदास गौड़, **श्रीरामचरितमानस की भूमिका**, प्रकाशक : हिंदी पुस्तक एजेंसी 126, हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1982, पृ. 42।

यहाँ पर एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि तुलसीदास ब्राह्मण थे, फिर ब्राह्मण इनको क्यों ब्राह्मण नहीं मानते थे। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इसका समाधान देने का प्रयत्न किया है। वह देखने योग्य है – "सम्भवतः इस विरोध का कारण पंडितों का एक संकुचित स्वार्थ था : 'मानस' रचना के अनंतर उनकी पंडिताई कदाचित् जनसाधारण के लिए उतनी अनिवार्य न रह गयी होगी जितनी उसके पूर्व थी, अथवा कम से कम उन्हें इस प्रकार का भय हुआ होगा, और असम्भव नहीं यदि इसीलिए उन्होंने तुलसीदास का विरोध किया हो।"[1] यह असमर्थतामूलक अनुमान मात्र है, किसी अनुसंधायक के द्वारा अन्वेषित कोई प्रमाण नहीं। डॉ. गुप्त से एक भारी चूक हुई। वे जानते थे कि टोडर तुलसीदास के बड़े घनिष्ठ मित्र थे। उन्होंने लिखा भी है कि "टोडर और तुलसीदास का सम्बंध बहुत-कुछ घरेलू ढंग का रहा होगा।[2] उन्हें यह भी मालूम था कि टोडर का घर वाराणसी के असीघाट के निकट था जहाँ उनके वंशज अभी भी रहते हैं। यही नहीं, उन्होंने यह भी सूचना दी है कि लाल बहादुर सिंह नामक टोडर के वंश के एक व्यक्ति से उनकी मुलाकात भी हुई थी जिन्होंने यह बतलाया था कि वे लोग प्रति वर्ष श्रावण श्यामा तीज को तुलसीदास की निधन-तिथि के उपलक्ष्य में सीधा दान करते हैं।[3] डॉ. गुप्त को यह अवश्य पता लग गया होगा कि टोडर और तुलसीदास एक ही कुल के थे, पर उन्होंने इस तथ्य को अनदेखा कर दिया।

जो हो, तुलसीदास कौन ब्राह्मण थे, यह उनके कथनों से पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता। इस सम्बंध में केवल बहिस्साक्ष्य पर निर्भर करना पड़ेगा और इतिहास के पन्नों को उलटना पड़ेगा। पटना विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग में मुस्लिम-काल के एक विख्यात विशेषज्ञ थे प्रो. हसन अस्करी। उन्होंने एक ऐतिहासिक तथ्य से मुझे अवगत कराया था। मुसलमानी शासन-काल में गैर-मुसलमान प्रजा को जिजिया या जजिया

1. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, हिंदी परिषद्, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, सातवाँ संस्करण, 2005 ई., पृ. 181।
2. उपरिवत्, पृ. 193।
3. उपरिवत्।

टैक्स देना पड़ता था। प्रत्येक बालिग को, जो शरीर से पूर्णतया असमर्थ तथा निर्धन नहीं है, यह टैक्स देना पड़ता था। इसे प्रथम-प्रथम मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिंध पर विजय के समय लगाया गया था (712-13 ई.)। इसमें ब्राह्मणों को छूट दी गयी थी। किंतु फिरोज तुगलक (1351-1388 ई.) ने इसको ब्राह्मणों पर भी लगा दिया।[1] ब्राह्मणों ने इस पर राजा के सामने फरियाद की किंतु फिरोज तुगलक ने कहा कि ब्राह्मण अब गरीब कहाँ हैं, वे तो जमींदार हैं, बड़े-बड़े काश्तकार हैं। ब्राह्मणों ने यह तर्क दिया कि जो याचक-वृत्ति छोड़कर, पुरोहिती से अपनी जीविका अर्जित न कर जमींदारी और काश्तकारी में लग गये हैं, वे ब्राह्मण नहीं हैं। किंतु फिरोज तुगलक ने उनकी एक न सुनी और ब्राह्मणों को भी जिजिया टैक्स देना ही पड़ा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि पुरोहिती-वृत्ति वाले ब्राह्मणों और जमींदारी-काश्तकारी में लगे ब्राह्मणों में अलगाव पैदा हो गया जो निरंतर बढ़ता ही गया। याचक-वृत्ति वाले ब्राह्मण अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बरकरार रखने के लिए कहने लगे कि अयाचक-वृत्ति वाले अर्थात् जमींदार-काश्तकार ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हैं। ऐसा कहने में ईर्ष्या का ही भाव था। एक सामाजिक कारण से दोनों ब्राह्मण-वर्गों के बीच का अलगाव खाई बन गया और यह खाई दिनानुदिन बढ़ती गयी। दोनों वर्गों के बीच वैवाहिक सम्बंध भी धीरे-धीरे समाप्त हो गये क्योंकि विवाह का आधार पारिवारिक सम्पत्ति बन गया। विवाहार्थी युवक की योग्यता यह हो गयी कि उसके हिस्से में कितनी जमीन है। ऐसी स्थिति में जमीन-जायदाद वाला ब्राह्मण याचक-वृत्ति वाले, पुरोहिती से जीविका चलानेवाले ब्राह्मण के परिवार में कैसे विवाह करता? फलस्वरूप व्यावहारिक रूप में पुरोहिती-वृत्ति छोड़कर जमींदार-काश्तकार बने ब्राह्मणों का एक पृथक् वर्ग बन गया जिसे सैद्धांतिक रूप बहुत बाद में दिया गया। और, यह प्रक्रिया बिहार, उत्तर प्रदेश जैसे हिंदी-प्रदेश में ही नहीं, सारे भारत में घटित हुई। मिथिलांचल के 'पछिमा ब्राह्मण', बंगाल के 'जमींदार ब्राह्मण',

---

1. **हिंदी विश्वकोश**, खंड 4, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1964 ई. में इरफान हबीब लिखित 'जिजिया' शीर्षक टिप्पणी।

पंजाब के 'मोहियाल', मेरठ-रुहेलखंड के 'त्यागी (तगा)', महाराष्ट्र के 'चितपावन', गुजरात के 'अनाविल (देसाई)', केरल के 'नम्बूदरी' आदि इसी प्रकार के ब्राह्मण हैं। स्पष्ट है कि दो सौ से अधिक वर्षों पूर्व फिरोज तुगलक के समय आरम्भ होनेवाला याचक और अयाचक ब्राह्मणों का पारस्परिक मनोमालिन्य तुलसीदास के समय तक अपने चरम रूप में आ गया होगा।

ब्राह्मण-वर्ग दो वर्गों में विभक्त तो हो गया, किंतु अयाचक अर्थात् जमींदारी-काश्तकारी में लगे ब्राह्मण-वर्ग को नामकरण के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी। स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए नामकरण होना अनिवार्य है। अतः इस वर्ग की स्वतंत्र सामाजिक और राजनीतिक पहचान के लिए बनारस के महाराजा सर प्रभुनारायण सिंह, जो स्वयं इसी ब्राह्मण-वर्ग से आते थे, ने 1892 ई. में इसके लिए 'भूमिहार ब्राह्मण' नाम स्वीकृत और प्रचलित करवाया। बिहार में इस नाम के प्रचार का भार लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर के संस्थापक बाबू लंगट सिंह को सौंपा गया था।[1] भारत में किसान-आंदोलन के प्रवर्तक, प्रसिद्ध स्वतंत्रता-सेनानी और शास्त्रज्ञ स्वामी सहजानंद सरस्वती ने अनुमान किया है कि 'भूमिहार संज्ञा या विशेषण भी किसी अयाचक ब्राह्मण दल का मुसल्मानी समय में ही पड़ा है, जैसी कि ब्राह्मणों की ही कान्यकुब्ज प्रभृति संज्ञाये हैं।"[2] उनके अनुमान का आधार क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। यह अनुमान इसलिए भी अमान्य है कि यदि इस वर्ग के ब्राह्मणों के लिए 'भूमिहार' शब्द पहले से ही प्रचलित होता तो काशी-नरेश नामकरण का प्रयत्न क्यों करते। अल्पज्ञ जनों को यह शंका हो सकती है कि तुलसीदास के समय में 'भूमिहार ब्राह्मण' शब्द तो था नहीं। इसका उत्तर यही है कि यह ब्राह्मण-वर्ग तो तुलसीदास के समय से बहुत वर्ष पूर्व ही अस्तित्व में आ गया था, इस नाम का प्रचलन उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुआ।

---

1. **ब्रह्मर्षि समाज पत्रिका** (पटना), अक्टूबर-दिसम्बर, 1998, पृ. 15।
2. स्वामी सहजानंद सरस्वती, **ब्रह्मर्षिवंश विस्तर**, हितचिंतक प्रेस, रामघाट, बनारस सिटी में मुद्रित, द्वितीयावृत्ति सम्वत् 1981 विक्रमी, पृ. 282।

गोस्वामी तुलसीदास इसी अयाचक-वृत्ति वाले, पुरोहिती छोड़कर जमींदारी-काश्तकारी में लगे हुए ब्राह्मण-वर्ग अर्थात् भूमिहार ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। यहाँ पुनः एक शंका होती है कि यदि वे भूमिहार ब्राह्मण थे तो उन्होंने मंगन-कुल में जन्म लेने की बात कैसे कही। **कवितावली** के एक छंद में उन्होंने स्पष्ट रूप से मंगन-कुल में जन्म लेने की बात कही है –

> **जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,**
> **भयो परिताप पाप जननी जनक को।**
> **बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,**
> **जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।।**
> **तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,**
> **सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को।।**
> **नाम, राम! रावरो सयानो किधौं बावरो,**
> **जो करत गिरी तें गरु तृन तें तनक को।।**[1]

यह शंका भी निराधार है। "भयो परिताप पाप जननी जनक को" से यह अभिप्राय लिया जाता है कि उनके माता-पिता इतने दरिद्र थे कि शिशु के पालन-पोषण में आर्थिक अक्षमता का ख्याल कर उनको परिताप हुआ। ऐसा अभिप्राय ग्रहण करना उचित नहीं क्योंकि गरीब से गरीब व्यक्ति भी पुत्र-जन्म पर हर्षित ही होता है, दुःखी नहीं होता। दूसरी शंका यह होती है कि 'मंगन' शब्द से तो यह व्यंजित होता है कि वे उस ब्राह्मण-वर्ग के थे जो धनहीन था, याचक-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करता था जबकि भूमिहार ब्राह्मण तो धन-सम्पन्न ब्राह्मण-वर्ग था। यह शंका भी निस्सार ही है। 'मंगन' शब्द का अर्थ यहाँ सभी प्रकार का ब्राह्मण (Brahman in general) है। फिर, भूमिहार ब्राह्मण भी तो मूलतः ब्राह्मण ही हैं जैसे कान्यकुब्ज ब्राह्मण, सरयूपारी ब्राह्मण आदि। 'भूमिहार' शब्द तो विशेषण

---

1. तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2015 वि., पृ. 180।

है जिसको भ्रमवश अथवा ईर्ष्यावश विशेष्य अर्थात् प्रधान शब्द मान लिया जाता है। अतः तुलसीदास ने यदि अपने को 'मंगन' (ब्राह्मण) कहा तो इसमें शंका की कोई बात नहीं है।

कान्यकुब्जवंशावली में भूमिहार ब्राह्मण को कान्यकुब्ज ब्राह्मण की एक शाखा के रूप में मान्यता दी गयी है।[1] संदर्भित पुस्तक में यह भी सूचना दी गयी है कि पूर्वप्रकाशित 360 वंशावलियों को देखकर इसको तैयार किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि इसके प्रकाशन (1907 ई.) के पूर्व ही 'भूमिहार ब्राह्मण' शब्द प्रचलन में आ गया था।

गोस्वामी तुलसीदास कौन ब्राह्मण थे, इस पर विचार करते हुए यह निर्णय करना आवश्यक नहीं समझा जाता कि इनके परम आत्मीय मित्र टोडर किस जाति के थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वे भूमिहार जमींदार थे। वे लिखते हैं –

"काशी में इनके सबसे बड़े स्नेही और भक्त भदैनी के एक **भूमिहार जमींदार** टोडर थे जिनकी मृत्यु होने पर इन्होंने कई दोहे कहे हैं –

चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप।।
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भारु।
टोडर काँधा नहिं दियो, सब कहि रहे 'उतारु'।।
रामधाम टोडर गए, तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच।।

गोस्वामी जी की मृत्यु के सम्बंध में लोग यह दोहा कहते हैं –

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर।।

---

1. द्रष्टव्य : कान्यकुब्जवंशावली, लेखक : पं. दुर्गादत्तशर्मा त्रिपाठी, संशोधक : पं. मुकुंदराम, प्रकाशक : गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय, कल्याण-मुंबई, प्रकाशन-वर्ष : संवत् 1964, शके 1829, अष्टमोऽध्यायः पृ. 105।

पर बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में दूसरी पंक्ति इस प्रकार है या कर दी गयी है – श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर। यही ठीक तिथि है क्योंकि टोडर के वंशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामी जी के नाम सीधा दिया करते हैं।"[1]

आश्चर्य की बात है कि अपने को आचार्य रामचंद्र शुक्ल का अंतेवासी मानने में गर्व का अनुभव करने वाले आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने गुरुवर्य के मत के विरुद्ध विना कोई प्रमाण दिये टोडर को क्षत्रिय बतलाया है।[2] मिश्र जी ने शायद टोडर के वंशधरों का 'सिंह' आस्पद देखकर ऐसा अनुमान कर लिया। वस्तुतः 'सिंह' आस्पद जाति का बोधक न होकर उपाधिधारी के राजा होने का परिचायक होता है। किसी भी जाति के राजे 'सिंह' आस्पद धारण कर लेते थे। दरभंगा (बिहार) के महाराजा मैथिल ब्राह्मण होते हुए भी 'सिंह' उपाधिधारी थे। सूर्यपूरा स्टेट (बिहार) के स्वामी कायस्थ होने पर भी सामान्य कायस्थों के समान 'सिन्हा' या 'सिनहा' नहीं, वरन् 'सिंह' उपाधि धारण करते थे। प्रसिद्ध कथाकार राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह उसी स्टेट के थे। भूमिहार ब्राह्मणों के आस्पद सामान्यतया वे ही हैं जो अन्यान्य ब्राह्मणों के हैं, पर महाराज काशीनरेश का आस्पद 'सिंह' है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के द्वारा टोडर को क्षत्रिय बतलाये जाने का एक दूसरा कारण भी हो सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसीदास के द्वारा टोडर के सम्बंध में लिखे गये जिन तीन दोहों को उद्धृत किया है उनमें से एक में टोडर को "चार गाँव को ठाकुरो" कहा गया है। उत्तर प्रदेश में क्षत्रिय जाति के लोगों के लिए एक सामूहिक शब्द का प्रयोग होता है 'ठाकुर'। कदाचित् इसीसे आचार्य मिश्र को भ्रांति हुई। किंतु बिहार में तो हजाम जाति के लोगों का सामूहिक नाम होता है – 'ठाकुर'। बिहार में 'ठाकुर' उपाधि

---

1. रामचंद्र शुक्ल, **हिंदी साहित्य का इतिहास**, सातवाँ लोकभारती संस्करण 2010 पेपरबैक, पृ. 85।
2. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, **गोसाईं तुलसीदास** (वाराणसी, 2022 वि.), पृ. 280।

भूमिहार ब्राह्मण, मैथिल ब्राह्मण, लोहार और हजाम जातियों में बहुप्रचलित है। बंगाल में भी ब्राह्मणों की एक प्रसिद्ध उपाधि है 'ठाकुर'। अतः उक्त दोहे के आधार पर टोडर को क्षत्रिय नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात, "चार गाँव को ठाकुरो" का यह अर्थ लेना कि वे "चार गाँव के क्षत्रिय" थे, बेतुका लगता है। इसका तो सीधा अर्थ है कि वे "चार गाँव के मालिक" थे। 'ठाकुर' शब्द का एक अर्थ 'मालिक' होता ही है। मिश्र जी ने अपनी पुस्तक **गोसाईं तुलसीदास** (पृ. 296) में **गौतमचंद्रिका** के जिस अंश को उद्धृत किया है उसमें "चार गाँव को ठाकुरो" के स्थान पर "राउत चारिक गाउँ को" पाठ है। यहाँ तो और भी स्पष्ट है कि टोडर को चार गाँव का मालिक बतलाया गया है।

मिश्र जी ने अपनी पुस्तक में एक उल्लेखनीय कार्य यह किया है कि उन्होंने श्रीकृष्णदत्त-लिखित **गौतमचंद्रिका** के तुलसीदास से सम्बंधित अंश को उद्धृत कर दिया है। श्रीकृष्णदत्त भगवान् ब्राह्मण के पुत्र थे जो तुलसीदास के सत्संगियों में से एक थे। उस उद्धरण में टोडर का नाम तोडर लिखा गया है और उनके सम्बंध में निम्नांकित दोहे अंकित हैं –

तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
तोडर काँधा ना दिएउ सब कहि रहे उतारु।।
राउत चारिक गाउँ को मन को महामहीप।
तुलसी एहि कलि तमी महँ अथए तोडर दीप।।
तुलसीउर थाला बिमल तोडर गुनगन बाग।
इन्ह नयनन्हि जल सीचिहौं समुझि समुझि अनुराग।।
रामधाम तोडर गए मोचन तुलसी सोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यह जिय करत सँकोच।।[1]

शुक्ल जी के उद्धरण से प्रस्तुत उद्धरण में ये अंतर हैं –

(1) शुक्ल जी के उद्धरण में 'टोडर' नाम दिया गया है जबकि इसमें 'तोडर' है। ध्यातव्य है कि मिश्र जी ने अपने विवेचन में शुक्ल जी द्वारा

1. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, **गोसाईं तुलसीदास** (वाराणसी, 2022 वि.), पृ. 296-97।

स्वीकृत 'टोडर' नाम ही स्वीकार किया है, 'तोडर' नहीं।[1]

(2) शुक्ल जी के उद्धरण में **गौतमचंद्रिका** का तीसरा दोहा नहीं है।

(3) दोनों के पाठ में भी बहुत थोड़ा अंतर दिखायी पड़ता है किंतु उससे अर्थ में फर्क नहीं पड़ता है।

टोडर के सम्बंध में रामदास गौड़ ने निम्नांकित विवरण प्रस्तुत किया है – "गोसाईं' जी व्रजमंडल से लौटे तो फिर काशी आये। इसी समय उनके परम मित्र रामभक्त जमीदार टोडरमल को द्वेषवश गोसाइयों ने मार डाला। गोस्वामी जी को इसका बड़ा रंज हुआ।... उनके मुख से हृदय के सच्चे उद्‌गार के रूप में नीचे लिखे चार दोहे निकल पड़े –

चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप।।
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार।।
तुलसी उर थाला बिमल टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग।।
रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिन यही जानि संकोच।।

टोडर के दो लड़के थे आनंदराम और रामभद्र। संवत् 1669 में जब रामभद्र मर चुके थे, आनंदराम और रामभद्र के पुत्र कँधई में झगड़ा हुआ। टोडर की जमीदारी में पांच गांव थे – भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा। गोस्वामी जी को ही दोनों ने पंच माना। यह पंचनामा संवत् 1669 कुँआर सुदी तेरस को काजी के समक्ष लिखा गया। इसमें कोई संदेह का कारण नहीं कि आरम्भ के नागराक्षर में लिखे श्लोक और दोहा गोस्वामीजी के ही करकमलों के लिखे हैं। यह पंचनामा 11 पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा। 11वीं पीढ़ी में पृथ्वीपाल सिंह ने महाराज काशीनरेश

---

1. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, **गोसाईं तुलसीदास** (वाराणसी, 2022 वि.), पृ. 280।

को सौंप दिया। यह अबतक काशिराज के यहाँ सुरक्षित है।"[1]

गौड़ जी ने भी टोडर की जाति के सम्बंध में कोई सूचना नहीं दी। किंतु उनकी एक स्वीकारोक्ति से यह संकेत मिलता है कि टोडर भूमिहार ब्राह्मण थे। तुलसीदास-लिखित पंचनामा टोडर के वंशधर द्वारा महाराज काशीनरेश को ही क्यों सौंपा गया? इसका एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि सुरक्षा के लिए ऐसा किया गया। तब, एक प्रश्न उठता है कि काशीनरेश को ही इसके लिए क्यों उपयुक्त समझा गया? इसके उत्तर में इसके अलावे और क्या कहा जा सकता है कि टोडर के वंशधर ने यह समझकर काशीनरेश को सौंपा कि स्वयं भूमिहार ब्राह्मण होने के कारण वे इसकी संरक्षा पर विशेष ध्यान देंगे? सचमुच वह आजतक इसीलिए अस्तित्व में है भी कि वह महाराज काशीनरेश के संग्रहालय में है।

हंडिया पोस्ट-ग्रैजुएट कालेज, हंडिया (इलाहाबाद) के सेवानिवृत्त प्राचार्य और तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञ डॉ. सभापति मिश्र ने अपने 28-4-2016 के पत्र में टोडर के सम्बंध में विस्तृत विवरण लिख भेजा था। उनके द्वारा दिया हुआ विवरण पाठकों के समक्ष अविकल रूप में प्रस्तुत है

"गोस्वामी तुलसीदास काशी में प्रहलादघाट, हनुमान फाटक, प्रसिद्ध गोपाल मंदिर में निवास करने के बाद काशी के प्रसिद्ध जमींदार तोडर के आग्रह पर भदैनी के समीप स्थित असीघाट पर आकर रहने लगे और जीवनपर्यंत यहीं रहे। तोडर के घर से उनको सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। लगभग चालीस वर्षों तक वे असीघाट पर रहे। उनकी मित्रमंडली में कृष्णदत्त मिश्र भी थे जो बरैनी गाँव के निवासी थे। श्री मिश्र अच्छे कवि थे। उन्होंने संवत् 1681 में **गौतमचंदिका** ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में कवि ने तुलसी का जीवनवृत्त लिखने के साथ तोडर की यशकीर्ति का वर्णन भी किया। तुलसी अपने परम मित्र तोडर की मृत्यु का समाचार सुनकर अत्यंत विह्वल हो गये, उनके मुख से तोडर के विषय में चार दोहे मुखरित हुए –

---

1. रामदास गौड़, **श्रीरामचरितमानस की भूमिका**, प्रकाशक : हिंदी पुस्तक एजेंसी, 126, हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1982, 'तुलसी-चरित-चन्द्रिका', पृ. 33-34।

(1) **तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।**
तोडर काँधा ना दिएउ, सब कहि रहे उतार।।

[तोडर जैसे रामसनेही (तुलसी) के सिर पर भारी भार (बोझ) छोड़कर चले गये। मुझे (तुलसी) विश्वास था कि (तोडर) काँधा (सहयोग) देंगे किंतु मुझे छोड़कर चले गये। सब लोग कहते हैं कि तुम तो उतार (निकृष्ट) हो।]

(2) **राउत चारिउ गाँव को मन को महा महीप।**
तुलसी एहि कलि तमी महँ अथए तोडर दीप।।

[तोडर का वैशिष्ट्य वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि वे चार गाँव के रावत (ठाकुर, मालिक) जमींदार और मन के महामहीप (चक्रवर्ती अथवा राजा दिल) थे जो इस कलियुग-रूपी अंधकार दूर करनेवाला दीपक था, वह बुझ गया।]

कृष्णदत्त मिश्र ने तुलसी के मुख से तोडर को चार गाँव का मालिक कहलवाया है जबकि वे पाँच गाँव के जमींदार थे। पंचनामा में पाँच गाँव का उल्लेख है। पं. हरिहर विट्ठल दुगवेकर ने लिखा है कि "बनारस में तोडर नामक बड़ा जमींदार था। इनके पाँच गाँव ऐसे थे जो काशी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैले हुए थे। इनके नाम भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतपुर (चित्तूपुरा खुर्द) और लहरतारा हैं।" (**तुलसी का जीवनवृत्त और सतपंच चौपाई** – पृ. 20, प्रकाशक – पं. रणछोड़लाल व्यास, मंत्री, तुलसी स्मारक कार्यालय, प्रहलाद घाट, काशी, मुद्रक – बी. एल. पावगी हितचिंतक प्रेस, रामघाट, बनारस सिटी, सन् 1915 ई.)।

'पंचनामा' में कृष्णदत्त मिश्र का भी हस्ताक्षर है। इसमें छितपुर को चित्तूपुरा खुर्द गाँव लिखा हुआ है। 'खुर्द' का अर्थ है छोटा गाँव। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने बड़े चार गाँवों का ही कथन दोहे में किया है।

(3) **तुलसी उर थाला विमल तोडर गुनगन बाग।**
इन नयनन्हिं जल सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग।।

[इस दोहे में तुलसी ने रूपक के माध्यम से अपनी मनोव्यथा को व्यक्त किया है – तुलसी का हृदय-स्थल थाला (पौध रोपने की जगह) है जिसमें तोडर रूपी गुणी बाग रूप में है। ऐसे बाग के पौधों को मैं (तुलसी) उनके प्रेम को स्मरण कर नेत्रों के जल से सींचूँगा जिससे वे मुरझायें नहीं। तोडर के प्रति यह अनन्य प्रेम का द्योतक है।]

(4) रामधाम तोडर गए मोचन तुलसी सोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यह जिय करत सकोच।।

[तुलसी के सोच को मोचन (दूर करने हेतु) तोडर रामधाम (साकेत गमन) चले गये। पुनीत (पवित्र, प्रिय) मित्र के विना जीना बेकार है, यही मेरे जी में संकोच है।]

संवत् 1668 विक्रमी में तोडर की हत्या हुई थी। संवत् 1669 वि. में उनकी सम्पत्ति का बँटवारा हुआ था। इसी समय कृष्णदत्त मिश्र ने **गौतमचंद्रिका** लिखी थी। तोडर के वंशज डॉ. आनंद बहादुर सिंह अभी वर्तमान हैं। अवस्था नब्बे वर्ष के लगभग है। भदैनी में रहते हैं। मैं काशी जाने पर अवश्य उनसे मिलता हूँ।"

डॉ. मिश्र टोडर के वर्तमान वंशधर से बराबर मिला करते हैं, इसलिए टोडर की जाति के सम्बंध में उनका मंतव्य प्रामाणिक होगा, ऐसा समझकर उनसे मैंने पूछा कि टोडर किस जाति के थे। इस पर मिश्र जी ने स्पष्ट कहा कि वे भूमिहार थे।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त टोडर के सम्बंध में लिखते हैं – "टोडर कवि के एक दूसरे मित्र थे, जो काशी के एक जमींदार थे।"[1] इस प्रकार गुप्त जी टोडर की जाति बतलाने से कन्नी काट गये।

टोडर की जाति के सम्बंध में सर्वाधिक प्रामाणिक मत आचार्य रामचंद्र शुक्ल का ही है जिन्होंने स्पष्ट रूप से टोडर को भूमिहार जमींदार अर्थात् भूमिहार ब्राह्मण बतलाया है। शुक्ल जी के मत की प्रामाणिकता

---

1. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, हिंदी परिषद्, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, सातवाँ संस्करण 2005 वि., पेपरबैक, पृ. 178।

इसीसे सिद्ध है कि आज भी काशी में टोडर के वंशधर लोग भूमिहार ब्राह्मण कहलाते हैं।[1] निश्चय ही टोडर तुलसीदास के केवल मित्र और स्नेही ही नहीं थे, वरन् उनके गोत्रीय थे, उनके गोतिया थे, उनके कुल के थे। टोडर और तुलसीदास, दोनों एक ही कुल के भूमिहार ब्राह्मण थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण टोडर के सम्बंध में तुलसीदास का लिखा हुआ निम्नांकित दोहा है–

तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार।।

इस दोहे का सारांश यह है कि तुलसीदास को पछतावा है कि टोडर ने उनको कंधा नहीं दिया। यह 'कंधा देना' क्या है? 'कंधा देना' एक मुहावरा है जिसका अर्थ होता है मृतक को श्मशान ले जाते समय अरथी में कंधा लगाना। **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर**[2] में इस मुहावरे के दो अर्थ दिये गये हैं जिनमें से पहला अर्थ यही है। वहाँ इसका दूसरा अर्थ दिया गया है – "सहारा देना, सहायता देना।" इस दोहे का जो अभिप्राय है, उसमें इस दूसरे अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती है क्योंकि टोडर से तुलसीदास को तो अपेक्षित सहायता मिल ही चुकी थी, फिर वे इसके लिए क्यों पछताते? अवस्था में टोडर से बड़े होने के कारण तुलसीदास स्वभावतः ही सोचते थे कि वे पहले स्वर्गीय होंगे और तब टोडर उनकी अरथी में कंधा लगावेंगे। **बृहत् हिंदी कोश**[3] में भी इस मुहावरे के ये ही दो अर्थ दिये गये हैं – "अरथी ढोने में कंधा लगाना; शामिल होना; मदद देना।"

अब प्रश्न है, कंधा देने की बात से यह कैसे सिद्ध होता है कि टोडर और तुलसीदास, दोनों एक ही कुल के थे। सिद्ध होता है और वह इस

---

1. कुलदीपनारायण राम 'झड़प', **गोस्वामी तुलसीदास जीवनवृत्त और व्यक्तित्व** (हवड़ा, 2029 वि.), पृ. 688।
2. **संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर**, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, एकादश संस्करण 2054 वि., 'कंधा', शब्द।
3. **बृहत् हिंदीकोश**, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2020 वि., 'कंधा' शब्द।

प्रकार होता है। अरथी में कंधा देने की क्रिया अपने कुल के ही लोग करते हैं, जो कोई नहीं करता। अन्यान्य क्षेत्रों में तो यह प्रथा है ही, अवधी-क्षेत्र में भी यही रिवाज है। मेरे मित्र और लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी के सेवानिवृत्त प्रोफेसर डॉ. हरिशंकर मिश्र ने इसकी सम्पुष्टि करते हुए सूचना दी कि कुल के ही लोग कंधा लगाते हैं जिसमें जामाता वर्जित है। जामाता का वर्जित होना एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। जामाता तो पुत्र के ही समान प्रिय होता है, फिर उसका वर्जन क्यों? इसीलिए न कि वह अपने कुल का नहीं होता है? इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अरथी में कंधा देने के लिए कुल का होना अनिवार्य है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि टोडर और तुलसीदास एक ही कुल के भूमिहार ब्राह्मण थे। तभी तो वे टोडर से कंधा दिये जाने की आशा रखते थे! तुलसीदास ने अपनी कृतियों में लोकमत को शास्त्रमत के ही समान महत्त्व दिया है। अतएव जीवन के अवसान-काल में सम्पन्न होनेवाली जिस लोकरीति की ओर तुलसीदास ने संकेत किया है, उसको गम्भीरता से लिया जाना चाहिए।

एक अन्य लोकरीति भी टोडर और तुलसीदास को एक ही कुल का सिद्ध करती है। तुलसी-साहित्य के सभी विद्वान् यह मानते हैं कि टोडर के वंशधर आज भी वाराणसी में विद्यमान हैं जो तुलसीदास की मृत्यु-तिथि पर सीधा दान करते हैं। यह क्रिया भी तो कुल के ही लोगों के द्वारा की जाती है। लोक-परम्परा में तो यही देखा जाता है। इस आधार पर यह क्यों नहीं माना जाय कि टोडर और तुलसीदास केवल मित्र नहीं वरन् एक ही कुल के थे? मित्रता के नाते ऐसा होता तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह नहीं चलता, इसको कुल-परम्परा का रूप प्राप्त नहीं होता।

यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि टोडर के वंशधरों के बीच सम्पत्ति के बँटवारे में तुलसीदास ने पंच का काम किया था। यह काम भी प्रायः अपने कुल के मान्य लोगों के ही द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। बाहरी लोगों का हस्तक्षेप तो शिकायत का विषय होता है। इससे भी यही संकेत मिलता है कि तुलसीदास टोडर के कुल के ही थे।

कतिपय ऐसे अंतस्साक्ष्य भी हैं जो तुलसीदास के भूमिहार ब्राह्मण होने की ओर संकेत करते हैं। **रामचरितमानस** में वसिष्ठ मुनि श्री राम से कहते हैं –

उपरोहिती कर्म अति मंदा।
बेद पुरान सुमृति कर निंदा।। – उत्तर. 47/6

[पुरोहिती का कर्म बहुत ही नीचा है। वेद, पुराण और स्मृति सभी इसकी निंदा करते हैं।] यदि तुलसीदास स्वयं याचक-वृत्ति के और पुरोहिती से जीविका अर्जित करनेवाले ब्राह्मण-वर्ग के होते तो वे अपने पुश्तैनी पेशे को निंदनीय कैसे बतला सकते थे? इससे तो यही सिद्ध होता है कि वे उस ब्राह्मण-वर्ग के थे जो याचक और पुरोहिती वृत्ति को छोड़कर जमींदार-काश्तकार ब्राह्मण-वर्ग के हो गये थे और जो बाद में चलकर भूमिहार ब्राह्मण कहलाने लगे। इसी तरह एक दोहे में उन्होंने याचक वृत्ति की निंदा की है –

तुलसी दान जो देत हैं जल में हाथ उठाइ।
प्रतिग्राही जीवै नहीं दाता नरकै जाइ।। दोहावली, 533

[तुलसीदास कहते हैं कि जो लोग हाथ उठाकर (मछलियों को फाँसने के लिए) जल में दान देते हैं (चारा डालते हैं) उस दान को ग्रहण करनेवाली मछली तो जीती नहीं और वह दाता भी नरक में जाता है।] यहाँ भी तुलसीदास प्रतिग्रह अर्थात् दान ग्रहण करने को हेय ही बतला रहे हैं। यदि वे स्वयं उस वृत्ति के ब्राह्मण होते तो वे उसे निंदनीय कभी नहीं बतलाते। निस्संदेह तुलसीदास उस ब्राह्मण-वर्ग के थे जो दान नहीं लेता था, पुरोहिती से जीविका नहीं चलाता था।

इस स्थल पर एक और शंका पर विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। **कवितावली** के उत्तरकांड के एक सौ छठे छंद के अंतिम चरण में तुलसीदास अपने लिए कहते हैं – "माँगि कै खैबो", अर्थात् "माँग कर खा लूँगा" अथवा "माँगकर खाना" मेरा काम है। कोई इससे यह अभिप्राय

निकाल सकता है कि याचक वृत्ति के ब्राह्मण होने के कारण ही उन्होंने ऐसा कहा है कि माँगकर खाने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होगा। ऐसा अभिप्राय ग्रहण करना उचित नहीं। वस्तुतः वे यहाँ अपनी व्यक्तिगत परिस्थिति को लक्ष्य कर ऐसा कह रहे हैं, न कि उनको जन्म देनेवाले परिवार की सामाजिक परिस्थिति का ध्यान कर ऐसा बोल रहे हैं। जन्म तो उनका उसी ब्राह्मण-वर्ग के परिवार में हुआ था जो याचक-वृत्ति और पुरोहित-वृत्ति को छोड़ चुका था। जन्म के बाद अनाथ हो जाने के कारण उनको दरिद्रता झेलनी पड़ी थी। **कवितावली** की रचना तो उनके जीवन के अंतिम भाग में हुई थी जब वे दरिद्रता की स्थिति को पार कर चुके थे। सत्य तो यह है कि "माँगि कै खइबो" कहकर वे याचक वृत्ति का उपहास ही कर रहे हैं। **रामचरितमानस** के उत्तरकांड में कलि-काल का वर्णन करते हुए वे कहते हैं – "सब जाति कुजाति भए मँगता" (101/6)। तुलसीदास के कहने का अभिप्राय यह है कि जब सभी जाति के लोग याचक बन ही गये तो मैं भी चाहे जिस जाति का भी होऊँ, मैं भी याचक बन जाऊँगा। यह तो याचक-वृत्ति का उपहास करना हुआ। निष्कर्षतः, "माँगि कै खैबो" के आधार पर उनको याचक वृत्ति का ब्राह्मण नहीं माना जा सकता।

इस सम्बंध में बहिस्साक्ष्य का नितांत अभाव भी नहीं कहा जा सकता। एक ऐसा साक्ष्य प्राप्त होता है जो स्पष्ट रूप से तुलसीदास को भूमिहार ब्राह्मण बतला रहा है। उत्तर प्रदेश और बिहार में मुख्य रूप से बसनेवाले भूमिहार ब्राह्मण-वर्ग के समानांतर अन्य प्रदेश में बसनेवाले इस प्रकार के ब्राह्मण-वर्गों में पंजाब का मोहियाल अत्यंत प्रसिद्ध है। इस ब्राह्मण-वर्ग का जो इतिहास लिखा गया है उसमें स्पष्टतः तुलसीदास को भूमिहार ब्राह्मण बतलाया गया है।[1]

---

1. द्रष्टव्य : **मोहयालों (साहसी लोगों) का इतिहास**, मूल लेखक : पी.एन. बाली, अनुवादक : डॉ. दर्शन कुमार जन, एस.डी. कॉलेज, अम्बाला छावनी, प्रकाशक : के.सी. बाली, M.A., I.P.S. (Retd.), 1989, पृ. 48।

अंत में, यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि तुलसीदास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलानेवाले विद्वान् सत्य से बहुत दूर नहीं कहे जा सकते, बशर्ते कि वे यह जानकर और मानकर कहते हों कि कान्यकुब्ज की ही एक शाखा भूमिहार ब्राह्मण है।

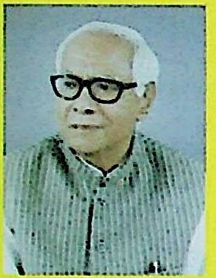
समग्र विवेचन का समाहार करते हुए यही कहा जायगा कि **तुलसीदास कान्यकुब्ज की एक शाखा भूमिहार ब्राह्मण-वर्ग के ब्राह्मण थे और टोडर उनके मित्र ही नहीं, कुल के भी थे।**

अनुक्रमणिका

(ग्रंथ, ग्रंथकार और विषय। ग्रंथ का नाम बोल्ड फेस में और पत्र-पत्रिका का नाम उद्धरण-चिह्न के अंतर्गत है।)

लेखक के तुलसीदास-विषयक प्रकाशि
प्रकाशनाधीन एवं लिखे जा रहे ग्रंथ

1. तुलसीदास का आचार्यत्व (नयी दिल
   1985)। अप्राप्त।
2. जो यह पढ़ै हनुमानचलीसा।
3. रामचरितमानस में काव्यहरण का सौंदर्
4. सुंदरकांड का सौंदर्य।
5. रामचरितमानस का वक्तव्य।
6. रामचरितमानस में तंत्रयुक्तियाँ।
7. रामचरितमानस की काव्यभाषा।



डॉ. सियाराम तिवारी

जन्म

5 दिसम्बर, सन् 1934 ई.।

स्थान

बिहार राज्य के वैशाली (तत्कालीन मुजफ्फरपुर) जिलान्तर्गत नारायणपुर बुजुर्ग नामक ग्राम जो हाजीपुर-महुआ रोड पर हाजीपुर से लगभग दस किलोमीटर पर अवस्थित है।

शिक्षा

एम.ए. (बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर), पीएच.डी., डी.लिट. (पटना विश्वविद्यालय)

पूर्व कार्य

(1) विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (पं. बं.) से हिन्दी-विभागाध्यक्ष एवं मानविकी तथा समाजविज्ञान संकायाध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त, **(2)** हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद में अतिथि आचार्य, **(3)** हंगेरियन युनिवर्सिटी ऑफ ट्रैंसिलवेनिया (रोमानिया) में अतिथि आचार्य, **(4)** नालंदा खुला विश्वविद्यालय, पटना में भाषा-संकाय के मुख्य समन्वयक।

प्रकाशित कृतियाँ

(1) हिन्दी के मध्यकालीन खंडकाव्य (दिल्ली, 1964), **(2)** बज्जिका भाषा और साहित्य (पटना, 1964), **(3)** हलधरदासकृत सुदामाचरित्र (पटना, 1966), **(4)** सिद्धांत, अध्ययन और समस्याएँ (पटना, 1967), **(5)** काव्यभाषा (नयी दिल्ली, 1976), **(6)** साहित्यशास्त्र और काव्यभाषा (साहिबाबाद, 1978), **(7)** रेणु : कर्तृत्व और कृतियाँ (पटना, 1983), **(8)** तुलसीदास का आचार्यत्व (नयी दिल्ली, 1985), **(9)** पाठानुसंधान (इलाहाबाद, 1987), **(10)** नन्दलाल बोस (नयी दिल्ली, 1991), **(11)** साहित्य और हिंदी-साहित्य (पटना, 1992) **(12)** मंझन (नयी दिल्ली, 1998), **(13)** जानकीवल्लभ शास्त्री : कर्तृत्व और कृतियाँ (इलाहाबाद, 1998) **(14)** आनन्द शंकर माधवन की सारस्वत साधना (मंदार विद्यापीठ, 1999), **(15)** चिंतन की रेखाएँ (दिल्ली, 2003), **(16)** हिन्दी-साहित्य : भाषिक परिदृश्य (दिल्ली, 2005), **(17)** सुनि आचरज करै जनि कोई (नयी दिल्ली, 2008), **(18)** भारतीय साहित्य की पहचान (पटना, 2009) **(19)** रोमानिया-यात्रा की डायरी, (अहमदाबाद, 2009), **(20)** पाटलिपुत्र से शान्तिनिकेतन (दरभंगा, 2011), **(21)** शैलेश मटियानी के पत्र (दिल्ली, 2013), **(22)** महामानव रवीन्द्रनाथ और अन्य निबंध (दिल्ली, 2013), **(23)** जो यह पढ़ै हनुमानचलीसा (दिल्ली, 2014)।

सम्पर्क

एन-2, प्रोफेसर कॉलोनी, कंकड़बाग, पोस्ट-लोहिया नगर, पटना-800020

दूरभाष - 08809941431, 09431808456

ISBN 978-93-5076-164-9

PILGRIMS

PILGRIMS PUBLISHING

◆ Varanasi ◆

www.pilgrimsonlineshop.com
www.pilgrimspublishing.in

हिन्दी साहित्य

न्योछावर : ₹ 125.00

9 789350 761649